प्राकृत भारती पुष्प-64

पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति रस से परिपूर्ण
नव स्तोत्रों का संकलन

जिन-भक्ति

(हिन्दी अनुवाद एवं महिमा सहित)

□ प्रशान्त मूर्ति पं. प्र. भद्रंकर विजयजी गणि

प्राकृत-भारती अकादमी, जयपुर
जैन श्वे.नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

प्राकृत भारती पुष्प-64

श्री सिद्धसेन दिवाकर-सिद्धर्षिगणि-हेमचन्द्राचार्यादि
पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति
रस से परिपूर्ण नव स्तोत्रों का संकलन

जिन-भक्ति

[हिन्दी अनुवाद एवं महिमा सहित]

संग्राहक एवं अनुवादक
प्रशान्तमूर्ति पं. प्र. श्री भद्रंकरविजयजी गणि

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

● प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी,
3826, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर-302003

● **पारसमल भंसाली**
अध्यक्ष
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, स्टे. बालोतरा-344025
जि. बाडमेर

● **नरेन्द्र प्रकाश जैन**
पार्टनर
मोतीलाल बनारसीदास,
बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

● हिन्दी अनुवादक : **नैनमल विनयचन्द्र सुराणा**

● **प्रथम संस्करण : अक्टूबर** 1989

● **मूल्य : रु.** 30.00

● **मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, जोधपुर**

प्रकाशकीय

प्रशान्त मूर्ति पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य द्वारा संकलित एवं अनुदित ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिरस से ओत प्रोत "जिन-भक्ति" नामक पुस्तक प्राकृत भारती के 64वें पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि उपधान तप करने वाले व्यक्ति को उपधान पूर्ण करने के चिन्ह स्वरूप माल्यार्पण से पूर्व यावज्जीवन गुरु के समक्ष त्रिकाल चैत्यवन्दन और जिन-पूजा करने का अभिग्रह अवश्य अंगीकार करना चाहिये, अर्थात् **प्रातःकाल जब तक श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति का वन्दन नहीं करे तब तक मुंह में पानी भी नहीं डालना चाहिये, मध्याह्न काल में जब तक जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति की पूजा नहीं करे तब तक भोजन नहीं करना चाहिए और सायं-काल में श्री जिन-प्रासाद में जाकर श्री जिनमूर्ति के समक्ष धूप-दीप आदि से पूजा न करले तब तक नींद नहीं लेनी चाहिये।**

जो व्यक्ति त्रिकाल चैत्यवन्दन का अभिग्रह न ले सकता हो उसे भी नित्य नियमित रूप से एक बार चैत्यवन्दन करने का अभिग्रह तो लेना ही चाहिये। उपधान में से निकलने के पश्चात् जो व्यक्ति इतना भी नहीं करे वह उपधान में अनेक दिनों तक किये गये तप-जप आदि की उत्तम आराधना को चमका नहीं सकता।

उपधान तप पूर्ण करके बाहर निकलने वाले व्यक्ति को जिन भक्ति की क्रिया नियमित एवं अनिवार्य रूप से करनी चाहिए और जिन-भक्ति के लिए प्रधान आवश्यकता श्री जिन-स्वरूप को पहचानने की है। श्री जिनेश्वर भगवान का स्वरूप इतना उच्च कोटि का है कि ज्यों-ज्यों उसकी हमें पहचान होती जाती है, त्यों-त्यों हमारे हृदय में उनके प्रति भक्ति के

रंग में वृद्धि होती जाती है। जिन-स्वरूप की पहचान करने के लिए वर्तमान काल में प्रधान साधन महान पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्रभावोत्पादक स्तोत्र हैं। इस कारण जिनेश्वर भगवान के अनुयायी हृदय में जिनभक्ति को स्थायी करने के लिए नित्य सात या नौ स्मरण आदि प्रभावशाली स्तोत्रों का पाठ करते हैं, परन्तु आज कल उनके पीछे अज्ञानवश लौकिक आशय प्रविष्ट होने लग गया है। वह विष स्वरूप होने से श्री जिनभक्ति की भावना का नाश करता है। उक्त अनर्थ से बचने के लिये और हृदय में सच्ची जिन भक्ति जागृत करने के लिये सात या नौ स्मरण आदि स्तोत्रों के साथ इस पुस्तक में सम्मिलित स्तोश्रों का अध्ययन और उनका नियमित स्मरण एवं पाठ करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रस्तुत संकलन में पूर्वाचार्यों—सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धर्षि गणि, महाकवि धनपाल, कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, परमार्हत् कुमारपाल, यशोविजयोपाध्याय रचित वर्धमान द्वात्रिंशिका, जिन स्तवन, ऋषभ–पञ्चाशिका, अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, साधारण जिन स्तवन, परमज्योति-पञ्चविंशतिका, परमात्म-पञ्चविंशतिका एवं वीतराग स्तोत्र आदि वैशिष्ट्यपूर्ण कतिपय जिन-स्तोत्रों को स्थान दिया गया है। ये स्तोत्र आत्मा को जिन-स्वरूप की सच्ची पहचान कराते हैं। ये स्तोत्र हृदय में जिनेश्वर देव एवं उनके शासन के प्रति भक्ति-राग उत्पन्न करते हैं। उनसे लौकिक आशंसा का एक अंश भी हमारे भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाता। चित्त की शुद्धि के लिए ये अपूर्व रसायन स्वरूप हैं। इनका नियमित जाप करने से मिथ्यात्व रूपी मल नष्ट होता है, सम्यग्दर्शन गुण निर्मल होता है और दिन-प्रतिदिन हमारी आत्मा जिन-भक्ति में अधिकाधिक रंगती जाती है। जिन-भक्ति के रंग में रंगी हुई आत्मा के लिए अष्ट सिद्धियाँ एवं नौ निधियाँ दूर नहीं रहतीं, परन्तु उनके लिए इन स्तोत्रों का पाठ नहीं करना है। जिन-भक्ति का महत्व हृदय में समझ में आये और वह हृदय में स्थिर हो जाए उसके लिए स्वाध्यायियों, उपधानवाहियों, पौषधव्रतधारियों एवं तपस्या करने वालों को इनका निरंतर पठन, स्मरण तथा जाप करना चाहिए।

तत्त्वदृष्टा प्रशान्तमूर्ति पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणि ने उक्त प्राचीन स्तोत्रों को गुजराती अनुवाद के साथ सन् 1941 में पुस्तक

रूप में प्रकाशित करवाया था। इस पुस्तक की वर्तमान समय में हिन्दी भाषियों के लिए अत्युपयोगिता देखकर अध्यात्मरसिक पूज्य आचार्य देव श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म. ने श्री नैनमल विनयचन्द्र सुराणा से गुजराती का हिन्दी अनुवाद करवाकर, "जिनभक्ति की महिमा" रूप उपोद्घात के साथ प्रकाशनार्थ हमें प्रदान की, एतदर्थ हम पूज्य आचार्य श्री की कृपा के अत्यन्त आभारी हैं।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	**पारसमल भंसाली**	**देवेन्द्रराज मेहता**
पार्टनर	अध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल बनारसीदास	जैन श्वे. नाकोड़ा	प्राकृत भारती अकादमी
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	जयपुर
	मेवानगर	

—o—
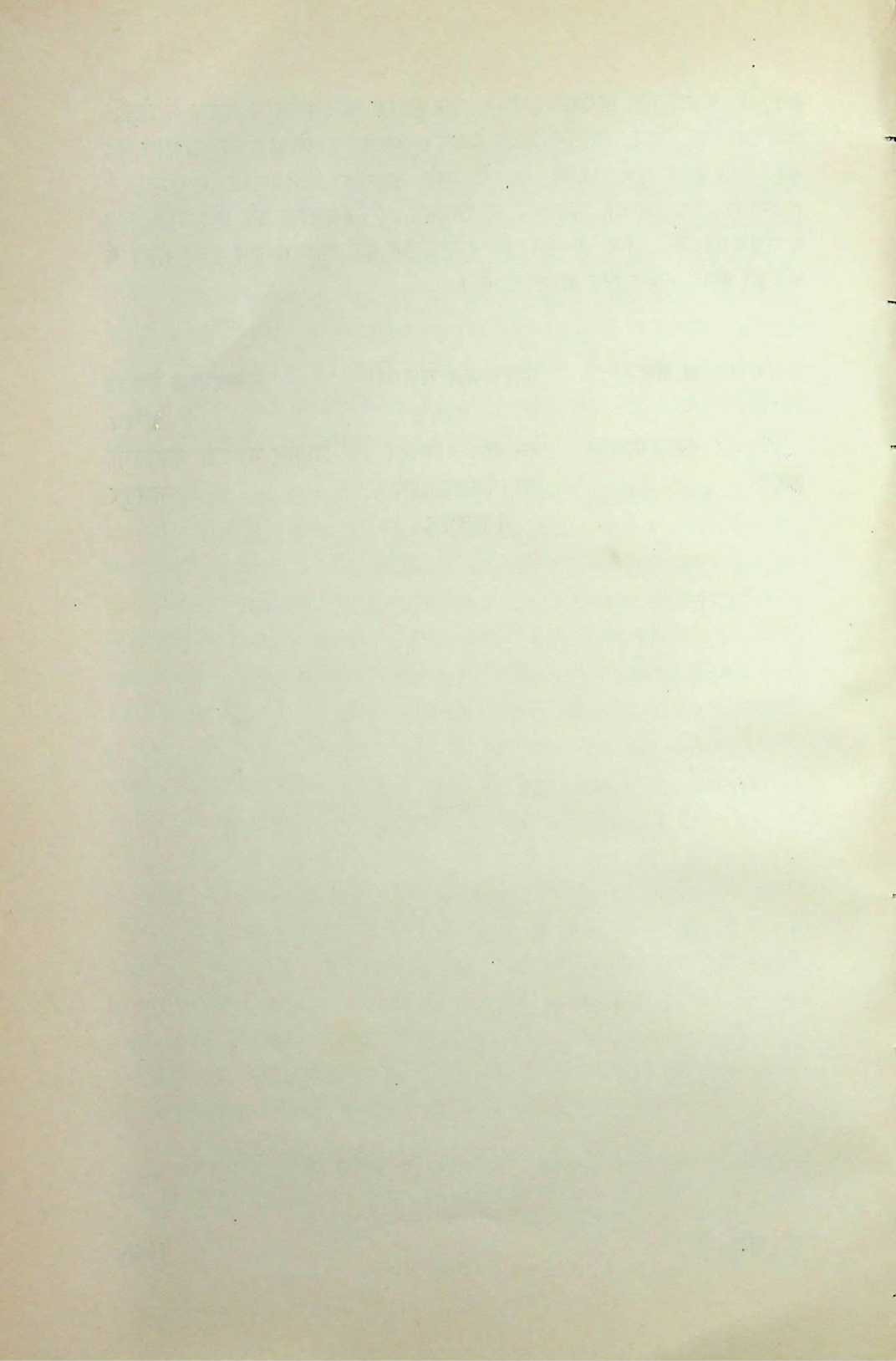
प्रस्तावना

श्री जिन-गुणों का स्तवन बृहस्पति के लिये भी असंभव है। दो भुजाओं के बल पर पृथ्वी को उठाना अथवा स्वयंभूरमण सागर को पार करना जितना कठिन है, असंभव है, उतना ही कठिन कार्य श्री जिनेश्वर देवों के गुणों का वर्णन करना है। जिस प्रकार दिन के समय अंधा उल्लू अथवा जन्मान्ध व्यक्ति सूर्य के सौन्दर्य का सामान्यतया भी वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार छद्मस्थ आत्मा भी श्री जिनेश्वर के अरूपी अनन्त गुणों का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ ही है। श्री जिनेश्वर देवों के गुणों का वर्णन इतना गहन और उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उन समस्त गुणों को प्रत्यक्ष देखने वाले केवलज्ञानी महर्षि भी उनका सम्पूर्ण एवं समुचित वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि आयु परिमित होती है, वाणी क्रमवर्ती होती है और गुणों का स्वरूप श्रवण आदि इन्द्रियों के लिये अगोचर होता है।

इन्द्रियों एवं वाणी के लिये अगोचर गुणों का वर्णन करना और उन्हें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष कराना, यह हर तरह से असंभव कार्य है, तब भी परमात्म-गुणों के प्रति अपनी अतिशय श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने के लिये जिन गुण रसिक महापुरुषों द्वारा श्री जिन-गुणों का स्तवन करने के लिये प्रयास किया गया है, उनके उपहार स्वरूप ही आज हमें स्तोत्र प्राप्त होते हैं। अपनी दोनों भुजाएं फैला कर जिस प्रकार बालक समुद्र की विशालता का हमें परिचय कराता है, उसी प्रकार से ये स्तोत्र हमें परमात्मा के अनन्त गुणों की किंचित् झलक दिखाते हैं।

परमात्मा के उन गुणों को अपनी वाणी के द्वारा व्यक्त करने के जो अनेक प्रयोजन कवित्व शक्ति प्राप्त महापुरुषों के होते हैं, उनमें एक प्रयोजन यह भी होता है कि उसके द्वारा वे अपना चित्त परमात्मा के गुणों में केन्द्रित कर सकते हैं और परमात्म-गुणों में चित्त की तन्मयता होने से

सैकड़ों जन्मों के संचित पाप-पुञ्ज क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, हृदय में परमात्म-गुणों का स्थायित्व होने से कर्म के दृढ़ बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं और परमात्म-गुणों का ध्यान, चिन्तन एवं बार-बार स्मरण होने से दुरूच्छेद्य एवं दीर्घ संसार का भी शीघ्र उच्छेद हो जाता है। ये समस्त बातें उन महापुरुषों को परम प्रिय होती हैं।

परमात्मा के अद्भुत गुणों को स्मृति-पटल पर लाने के लिये तथा बुद्धि एवं प्रतिभा से उन्हें वाणी द्वारा व्यक्त करने के लिये उक्त उपाय को काम में लाये बिना किसी से भी परमात्म-स्वरूप का वास्तविक ध्यान नहीं हो सकता। अगोचर परमात्म-स्वरूप को गोचर करने के लिये तथा अकथनीय परमात्म-गुणों को व्यक्त करने के लिये प्रतिभाशाली महापुरुषों ने जो अद्वितीय प्रयास किए हैं उसके फलस्वरूप जो अनेक स्तोत्र आज भी उपलब्ध हैं, उनमें से चुन-चुन कर कुछ इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। श्री जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तवन करने के लिये ये स्तोत्र जैन साहित्य में अग्रगण्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य स्तवनों एवं स्तुतियों की भी तत्पश्चात् रचना हुई है; परन्तु उन समस्त का "बीज रूप में" सर्वस्व इन स्तोत्रों में विद्यमान है, यह विद्वान पाठकगण को ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा।

प्रारम्भ में श्री वर्धमान-द्वात्रिंशिका है, जिसके रचयिता श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि, जैन साहित्य में आद्य स्तुतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने "अनुसिद्धसेनाः कवयः" कहकर उनकी असाधारण प्रशंसा की है। श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी ने जिन स्तुतिगर्भित अन्य अद्भुत द्वात्रिंशिकाओं एवं स्तोत्रों की भी रचना की है; उन सब में यह स्तुति सर्वाधिक सरस एवं सरलता पूर्वक ग्राह्य है, जिससे बाल-जीवों के लिये अधिक उपकारक है।

तत्पश्चात् श्री सिद्धर्षि गणि रचित "श्री जिन स्तवन" एवं कवि श्री धनपाल द्वारा रचित "श्री ऋषभ पंचाशिका" नामक दो स्तुतियाँ दी गई हैं। ये दोनों स्तुतियाँ भी अत्यन्त सरल, स्पष्ट एवं ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य रस से परिपूर्ण हैं। परमार्हत् कवि श्री धनपाल रचित "श्री ऋषभ-पंचाशिका" का स्वयं कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी के समान समर्थ महापुरुषों ने अत्यन्त सम्मान किया है और श्री शत्रुंजय पर श्री ऋषभदेव

भगवान के सम्मुख स्तुति करते समय उन्होंने स्वयं ने इसका उपयोग किया है।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी द्वारा रचित "अयोग-व्यवच्छेदिका" एवं "अन्ययोगव्यवच्छेदिका" नामक दो स्तुतियाँ दी गई हैं। श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित गम्भीर एवं गहन स्तुतियों के अनुकरण स्वरूप होने पर भी इन दोनों स्तुतियों को परमोपकारी आचार्य भगवान ने अपनी प्रतिभा से अत्यन्त सरल एवं समझ में आने योग्य स्पष्ट भाषा में रची हैं। सम्यक्त्व की परम विशुद्धि एवं शासन के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न करने के लिये ये दोनों स्तुतियां अत्यन्त लाभदायक हैं, ये अत्यन्त प्रबल मिथ्यात्व के विष को उतारने में समर्थ हैं तथा कलिकाल के मोहांधकार में ज्योति भरने के लिये रत्न की दो लघु दीवलियों का कार्य करती हैं।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के उपदेश से प्रतिबोधित एवं श्री अरिहंत भगवान के शासन के परम भक्त महाराजाधिराज श्री कुमारपाल भूपाल द्वारा रचित श्री जिनेश्वर भगवान की हृदय-द्रावक स्तुति दी गई है। यह स्तुति प्रत्येक भावुक व्यक्ति को श्री जिनेश्वर देव के साथ तन्मय करके भक्ति रस में सराबोर करने वाली है। इस स्तुति के 33 पद्य हैं। इसके द्वारा परमात्मा की स्तवना करने वाले भव्यात्मा को आज भी रोमांच होने लगता है। वह संसार का भान भूल कर श्री जिनेश्वर भगवान के साथ एकात्मता अनुभव करता प्रतीत होता है। इस स्तुति को इस कलियुग में मुक्ति-दूती का उपनाम दिया जाये तो वह सर्वथा सार्थक होगा।

तत्पश्चात् न्यायाचार्य, न्याय-विशारद, महोपाध्याय श्री यशोविजय जी द्वारा रचित "परमज्योति" तथा "परमात्म पंचविंशतिका" नामक दो स्तुतियां दी गई हैं। परमात्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले समस्त ग्रंथों का संक्षिप्त सार इन दो स्तुतियों में समाविष्ट है—ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ये दो स्तुतियाँ पाठकों में अपूर्व तत्त्वज्ञान की ज्योति जगमगाने के साथ श्री वीतराग परमात्मा के अद्भुत गुणों का परिचय कराती हैं।

तत्पश्चात् कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी की सुप्रसिद्ध रचना "श्री वीतराग स्तोत्र" दी गई है। इसकी रचना परमार्हत् श्री कुमारपाल भूपाल के दैनिक स्वाध्याय के लिये की गई थी। श्री जिन भक्ति के रसिक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह कण्ठस्थ करने योग्य है और नित्य श्री जिनेश्वर भगवान के सम्मुख स्तुति करने के लिये उपयोगी है। श्री वीतराग स्तोत्र का आजीवन रटन करने वाले व्यक्ति के हृदय में से मिथ्यात्व का भूत सदा के लिये भाग जाता है और सम्यक्त्व का सूर्य अपनी सहस्र किरणों के द्वारा चित्त रूपी भवन में सदा के लिये ज्योति फैलाता है, इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है। उसके प्रत्येक प्रकाश में रचयिता ने भक्ति रस की गंगा, वैराग्य रस का निर्भर एवं ज्ञानामृत की धारा प्रवाहित की है। उक्त धारा के प्रवाह में भव्य आत्माओं का मिथ्यात्व-मल धुल जाता है और सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगाने लगता है। अन्त में परिशिष्ट में श्री जिन स्तवन की महिमा पूर्वपुरुषों के वचनानुसार गुजराती भाषा में विस्तार पूर्वक बताई गई है। पाठकों को उस पर भी चिन्तन-मनन करने का परामर्श दिया जाता है।

श्री जिनभक्ति अत्यन्त कल्याणकारी अपूर्व वस्तु है। श्री जिनगुण-स्तुति उसका एक परम साधन है। इस बात की ओर भव्यात्माओं का ध्यान आकर्षित करने के लिये पूर्व महापुरुषों ने अथक परिश्रम किया है, जिसका समुचित आभास कराने के लिये परिशिष्ट का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट का लेखांकन करने में शास्त्रकार महर्षियों के आशय से विरुद्ध जो कुछ भी लिखा गया हो तथा स्तुतियों के अर्थ लिखने में न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त शास्त्र से विपरीत जो कुछ भी लिखा गया हो उस सबके लिये मिच्छामि दुक्कड़ देते हुए सज्जनों को हंस-चंचुवत् सार ग्रहण करने के लिये सूचित करता हूं।

मुनि भद्रंकरविजय

श्री करमचंद जैन पौषधशाला, अंधेरी
पोष शुक्ला द्वितीया
वीर संवत् 2468; वि. संवत् 1998
दिनांक 20-12-1941

—o—

उपोद्घात

जिन भक्ति की महिमा

जिन-भक्ति मुक्ति का प्रधान साधन है। भक्ति की शक्ति अकल्पनीय एवं असीम है। भक्ति की अपूर्व शक्ति के द्वारा समस्त प्रकार की आध्यात्मिक साधना का विकास होता है। भक्ति की शक्ति के द्वारा ही भक्तात्मा को ऐसी युक्ति सूझ जाती है जो उसे मुक्ति का साक्षात्कार कराती है।

अनादि काल से बहिरात्म भाव में रहा हुआ जीव श्री जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से अन्तरात्म-भाव प्राप्त करके क्रमशः परमात्म भाव की ओर उन्मुख होता है।

जिन-भक्ति अर्थात् "श्री जिनेश्वर परमात्मा ही केवल मेरे और समस्त जीवों के परम हित-चिन्तक, परम हित-कारक, सर्व चिन्ता-चूरक, सर्व-कार्य-पूरक, भव-सागर-तारक तथा मोक्ष-पद-दायक हैं"—इस प्रकार की अटल श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रभु के प्रति हृदय में अनन्त सम्मान एवं आदर प्रकट करना।

परमात्म-भक्ति ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाली है—इस सत्य की वास्तविक श्रद्धा जिस व्यक्ति के हृदय में स्थिर हो जाती है, ओतप्रोत हो जाती है; उसे परमात्मा को प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा अथवा कामना होती ही नहीं है। भक्ति की तन्मयता की आनन्दानुभूति करने वाले भक्त को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा प्रभु-भक्ति ही सर्वाधिक प्रिय एवं श्रेष्ठ प्रतीत होती है।

प्रत्येक व्यक्ति में परमात्म-स्वरूप विद्यमान है, छिपा हुआ है। वह प्रकट तब ही होता है, जब आत्मा परमात्मा की शरण में जाती है, वह उनकी भक्ति में एकरूप, एकात्म हो जाती है, उनकी आज्ञा को रोम-रोम में व्याप्त कर लेती है।

शाश्वत सुखमय, अनन्त आनन्दमय चिन्मय शुद्ध आत्म-स्वरूप को

प्राप्त करने का अनन्य एवं अद्वितीय उपाय परमात्मा की प्रीति, भक्ति और शरणागति ही है ।

परमात्म-भक्ति के अनेक साधन हैं, उपाय हैं। अपनी पात्रता, भूमिका के अनुरूप उपाय का सम्मान करने से जीवन में भक्ति का विकास होता है।

प्रस्तुत पुस्तक "जिन-भक्ति" में श्री अरिहन्त परमात्मा के गुणों के स्वरूप, उनका अचिन्त्य प्रभाव, समस्त विश्व पर उनके असंख्य उपकार, उनके साथ हमारे सम्बन्ध तथा उनकी स्तुति, वन्दना, अर्चना स्वरूप भक्ति फल आदि पर उत्तम प्रकार से प्रकाश डालने वाले अनेक संस्कृत स्तोत्रों आदि का संग्रह है, तथा साथ ही साथ इसे सुगम बनाने के लिये उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। इसका एकाग्रता से गान, अर्थ-चिन्तन आदि करने से हमारे हृदय में श्री अरिहन्त परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रवाह तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है और हमारी चित्त-वृत्तियाँ निर्मल, शान्त एवं स्थिर बनती हैं।

सांसारिक पदार्थों को हृदय में स्थान, मान एवं भाव देने में हमारी ही आत्मा का अपमान एवं अधःपतन होता है। हमारी आत्मा का वास्तविक सम्मान एवं उत्थान तो श्री जिनेश्वर परमात्मा की निष्काम आराधना एवं उपासना करने से होता है और उस आराधना एवं उपासना का प्रारम्भ परमात्मा की प्रीति एवं भक्ति से होता है। इस सत्य को स्वीकार करके जो व्यक्ति परम कल्याणकारी परमात्मा की उपासना में लीन होता है, वह व्यक्ति अवश्यमेव दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है।

अध्यात्म योगी तत्वद्दष्टा पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी महाराज ने भक्ति-रसिक पुण्यात्माओं के भक्ति-रस में वृद्धि हो, उसकी पुष्टि हो, इस शुभ उद्देश्य से भक्ति-वर्धक प्राचीन स्तोत्रों का गुजराती अनुवाद सहित सुन्दर संकलन प्रकाशित किया था, जिसका आज हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हो रहा है। आशा है हिन्दी भाषी जनता इससे अत्यन्त ही लाभान्वित होगी।

संकलनकर्ता उन महापुरुष के चरणों में कृतज्ञ भाव से वन्दन हो।

—विजयकलापूर्णसूरि

अनुक्रमणिका

—o—

जिन-भक्ति

आचार्य-पुरन्दर महावादी श्री सिद्धसेन दिवाकर-रचित

* श्री वर्द्धमानद्वात्रिंशिका *

सदा योगसात्म्यात्समुद्भूतसाम्यः,
प्रभोत्पादितप्राणिपुण्यप्रकाशः ।
त्रिलोकीशवन्द्यस्त्रिकालज्ञनेता,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१॥

अर्थ—क्षायिक भाव से उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप योग की तादात्म्यता के अनुभव से जिनमें सदा समर्पण भाव विद्यमान है, जिन्होंने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्रभा से अपने शासन के अन्तर्गत प्राणियों में धर्म का उद्योत प्रसारित किया है, जो त्रिलोक के स्वामी देवेन्द्र, भूमीन्द्र एवं चमरेन्द्रों के लिये भी वन्दनीय हैं और जो मति, श्रुत, अवधि तथा मनः पर्यव ज्ञान-युक्त पुरुषों के स्वामी हैं, ऐसे सामान्य केवलियों के लिये इन्द्र तुल्य परमात्मा श्री वर्द्धमान स्वामी ही मेरी गति स्वरूप हों—मुझे शरण हो। (१)

शिवोऽथादिसंख्योऽथ बुद्धः पुराणः,
पुमानप्यलक्ष्योऽप्यनेकोऽप्यथैकः ।
प्रकृत्याऽऽत्मवृत्त्याप्युपाधिस्वभावः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२॥

अर्थ—उपद्रवरहित, अपने तीर्थ की आदि करने वाले, तत्त्वज्ञ, बुद्ध, समस्त जीवों के रक्षक, इन्द्रिय जनित ज्ञान से अलक्ष्य, अनन्त पर्यायात्मक वस्तुओं के ज्ञाता होने से अनेक, निश्चय नय से एक, कर्म-प्रकृति आदि के परिणाम से उपाधि स्वरूप, फिर भी आत्मवृत्ति के द्वारा स्वभावमय श्री जिनेन्द्र मेरी गति स्वरूप हों। (२)

जुगुप्साभयाज्ञाननिद्राविरत्यं–
गभूहास्यशुग्द्वेषमिथ्यात्वरागैः ।
न यो रत्यरत्यन्तरायैः सिषेवे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥३॥

अर्थ—निन्दा, भय, अज्ञान, नींद, अविरति, काम-लिप्सा, हास्य, शोक, द्वेष, मिथ्यात्व, राग, रति, अरति, तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय ये पांच अन्तराय इस प्रकार अठारह दोष जिनमें नहीं हैं वे एक ही परमात्मा जिनेन्द्र मेरी गति रूप हों। (३)

न यो बाह्यसत्त्वेन मैत्रीं प्रपन्न–
स्तमोभिर्न नो वा रजोभिः प्रणुन्नः ।
त्रिलोकीपरित्राणनिस्तन्द्रमुद्रः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥४॥

अर्थ—जो प्रभु बाह्य सत्त्व अर्थात् लौकिक सत्त्व गुण से मित्रता नहीं रखते, जो अज्ञान रूपी अंधकार तथा रजोगुण से भी प्ररित नहीं हैं और तीनों लोकों की रक्षा करने में जिनकी मूर्ति आलस रहित है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति रूप हों। (४)

हृषिकेश ! विष्णो ! जगन्नाथ ! जिष्णो !,
मुकुन्दाच्युत ! श्रीपते ! विश्वरूप !
अनन्तेति संबोधितो यो निराशैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥५॥

अर्थ—हे इन्द्रियों के नियंता ! हे लोकालोक में व्याप्त ज्ञान से युक्त ! हे विश्व में विद्यमान भव्य प्राणियों के नाथ ! हे राग-द्वेष के विजेता ! हे पाप से मुक्त कराने वाले ! हे स्खलन से रहित ! हे केवलज्ञान रूप लक्ष्मी के पति ! हे असंख्य प्रदेशों में अनावृत स्वरूप से युक्त ! हे अनन्त ! आदि सम्बोधनों से निष्काम पुरुषों ने जिन्हें सम्बोधित किया है, ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हों। (५)

पुराऽनंगकालारिराकाशकेशः,
कपाली महेशो महाव्रत्युमेशः ।
मतो योऽष्टमूर्तिः शिवो भूतनाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥६॥

अर्थ—पूर्व में क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुए तब से जो कामदेव रूपी मलिन शत्रु के वैरी हैं, जो लोकाकाश रूपी पुरुषाकार के मस्तक पर विद्यमान सिद्ध शिला पर स्नान करने वाले हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, जो महान् ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, जो महाव्रतधारी हैं, जो केवलज्ञान केवल-दर्शन रूपी पार्वती के पति हैं, जो अष्टकर्मों के क्षय से अष्ट गुणों रूपी मूर्त्तियों से युक्त हैं, जो कल्याण स्वरूप हैं तथा जो समस्त प्राणियों के नाथ हैं, वे परमात्मा जिनेन्द्र एक ही मेरी गति हों। (६)

विधि-ब्रह्म-लोकेश- शंभु-स्वयंभू-,
चतुर्वक्त्रमुख्याभिधानां विधानाम्।
ध्रुवोऽथो य ऊचे जगत्सर्गहेतुः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।७।।

अर्थ—विश्व के भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग प्रदान करने में जो प्रभु निश्चल हेतु रूप हैं और जो विधि, ब्रह्मा, लोकेश, शंभु, स्वयंभू एवं चतुर्मुख आदि नामों के कारण रूप हैं, वे जिनेन्द्र ही एक मेरी गति रूप हों। (७)

न शूलं न चापं न चक्रादि हस्ते,
न हास्यं न लास्यं न गीतादि यस्य।
न नेत्रे न गात्रे न वक्त्रे विकारः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।८।।

अर्थ—जिनके हाथों में त्रिशूल, धनुष एवं चक्र आदि शस्त्र नहीं हैं, जो हास्य, नृत्य एवं गीत आदि से दूर हैं और जिनके नेत्र, देह अथवा मुँह में विकार नहीं हैं, वे श्री जिनेन्द्र परमात्मा एक ही मेरी गति हों। (८)

न पक्षी न सिंहो वृषो नापि चापं,
न रोषप्रसादादिजन्मा विडम्बः।
न निंद्यैश्चरित्रैर्जने यस्य कम्पः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।९।।

अर्थ—जिन प्रभु के पक्षी, सिंह तथा वृषभ का वाहन नहीं है, जिनके पुष्पों का धनुष नहीं है, जिन्हें रोष एवं हर्ष से प्राप्त विडंबना नहीं है और निन्दा करने योग्य चरित्रों से जिन्हें लोक में भय नहीं है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हों। (९)

न गौरी न गंगा न लक्ष्मी यदीयं,
वपुर्वा शिरो वाऽप्युरो वा जगाहे ।
यमिच्छाविमुक्तं शिवश्रीस्तु भेजे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१०।।

ग्रर्थ—जिनकी देह पर गौरी (पार्वती) बैठी हुई नहीं है, जिनके सिर पर गंगा स्थित नहीं है और जिनके वक्षस्थल में लक्ष्मी का निवास नहीं है, किन्तु इच्छाओं से मुक्त जिन प्रभु का मोक्षलक्ष्मी जाप करती है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हों। (१०)

जगत्संभवस्थेमविध्वंसरूपै-,
रसत्येन्द्रजालैर्न यो जीवलोकम् ।
महामोहकूपे निचिक्षेप नाथः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।११।।

ग्रर्थ—जिन प्रभु ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश स्वरूप मिथ्या इन्द्रजालों के द्वारा इस लोक को महा मोह रूपी कुँए में नहीं डाला, वे एक ही परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हों। (११)

समुत्पत्तिविध्वंसनित्यस्वरूपा,
यदुत्था त्रिपद्येव लोके विधित्वम् ।
हरत्वं हरित्वं प्रपेदे स्वभावैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१२।।

ग्रर्थ—जिन तीर्थंकर प्रभु से प्रकट उत्पत्ति, विनाश एवं नित्यता (ध्रुवत्व) रूप त्रिपदी ही इस लोक में स्वभाव से ब्रह्मत्व, शिवत्व एवं विष्णुत्व को प्राप्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु मेरी गति रूप हों। (१२)

त्रिकालत्रिलोकत्रिशक्तित्रिसन्ध्य-,
त्रिवर्ग-त्रिदेव-त्रिरत्नादिभावैः ।
यदुक्ता त्रिपद्येव विश्वानि वव्रे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेद्रः ।।१३।।

ग्रर्थ—जिन भगवान के द्वारा प्रतिपादित त्रिपदी त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिशक्ति, त्रिसंध्या, त्रिवर्ग तथा त्रिरत्न आदि भावों के द्वारा समस्त विश्व को वरण की हुई है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति हों। (१३)

यदाज्ञा त्रिपद्येव मान्या ततोऽसौ,
तदस्त्येव नो वस्तु यन्नाधितिष्ठौ ।
अतो ब्रूमहे वस्तु यत्तद्यदीयं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१४।।

अर्थ—जिन भगवान की आज्ञा त्रिपदी ही है, जिससे उक्त त्रिपदी मानने योग्य है। जो वस्तु त्रिपदी से व्याप्त है वह वस्तु है, और जो वस्तु त्रिपदी से अधिष्ठित नहीं है वह वस्तु भी नहीं है। अतः हम कहते हैं कि जो वस्तु है वह त्रिपदीमय है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हों। (१४)

न शब्दो न रूपं रसो नापि गन्धो,
नवा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिंगम् ।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१५।।

अर्थ—जिन श्री जिनेन्द्र भगवान के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पांच विषय नहीं है, जिन प्रभु का श्वेत आदि वर्ण अथवा आकार नहीं है, जिनका स्त्रीलिंग, पुंलिग अथवा नपुसंकलिग कोई लिंग नहीं है, जिन्हें यह प्रथम अथवा यह द्वितीय ऐसी पूर्वापरता नहीं है तथा जिनके संज्ञा नहीं है, वे श्री जिनेन्द्र भगवान एक ही मेरी गति हों। (१५)

छिदा नो भिदा नो न क्लेदो न खेदो,
न शोषो न दाहो न तापादिरापत् ।
न सौख्यं न दुःखं न यस्यास्ति वाञ्छा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१६।।

अर्थ—जिन भगवान का शस्त्र आदि से छेद नहीं है, करवत आदि से भेद नहीं है, जल आदि से क्लेद नहीं है, खेद नहीं है, शोष नहीं है, दाह नहीं है, सन्ताप आदि आपत्ति नहीं है, सुख नहीं है, दुःख नहीं है, इच्छा नहीं है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान मेरी गति हों। (१६)

न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगाः,
स्थितिर्नो गतिर्नो न मृत्युर्न जन्म ।
न पुण्यं न पापं न यस्यास्ति बन्धः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।१७।।

अर्थ—जिन प्रभु को मन, वचन और काया के योग नहीं हैं, ज्वर आदि रोग नहीं हैं और जिनके चित्त में उद्वेग का वेग नहीं है तथा जिन भगवान के आयु की सीमा नहीं है, पर-भव में जिनका गमन नहीं है, जिनकी मृत्यु नहीं है, जिनका चौरासी लाख जीवयोनि में जन्म/अवतार नहीं है, जिनको पुण्य, पाप अथवा बंध नहीं है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र मेरी गति हों। (१७)

तपः संयमः सूनृतं ब्रह्म शौचं,
मृदुत्वार्जवाकिंचनत्वानि मुक्तिः।
क्षमैवं यदुक्तो जयत्येव धर्मः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१८॥

अर्थ—जिनके द्वारा कथित तप, संयम, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, निरभिमान, आर्जव (सरलता), अपरिग्रह, मुक्ति (निर्लोभ) और क्षमा—यह दस प्रकार का धर्म ज्वलन्त है, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हों। (१८)

अहो विष्टपाधारभूता धरित्री,
निरालम्बनाधारमुक्ता यदास्ते।
अचिन्त्यैव यद्धर्मशक्तिः परा सा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥१९॥

अर्थ—अहो ! जिन भगवान् के धर्म की शक्ति अचिन्त्य एवं उत्कृष्ट है, जिससे भुवन की आधार रूप यह पृथ्वी आलम्बन और बिना आधार के स्थित है, वे श्री जिनेन्द्र परमातमा ही मेरी गति हों। (१९)

न चाम्भोधिराप्लावयेद् भूतधात्री,
समाश्वासयत्यैव कालेम्बुवाहः।
यदुद्‌भूत-सद्धर्मसाम्राज्यवश्यः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२०॥

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट सद्धर्म के साम्राज्य के वशीभूत बना समुद्र इस पृथ्वी को डुबोता नहीं है और उचित समय पर मेघ (बादल) आते रहते हैं, वे ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२०)

न तिर्यग् ज्वलत्येव यत् ज्वालजिह्वो,
यदूर्ध्वं न वाति प्रचण्डो नभस्वान् ।
न जार्गति यद्धर्मराजप्रतापः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२१॥

अर्थ—जिन भगवान् के धर्मराज का प्रताप ऐसा जागृत है कि जिससे अग्नि तिरछी प्रज्वलित नहीं होती और प्रचंड हवा ऊर्ध्व गति से नहीं चलती वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२१)

इमौ पुष्पदन्तौ जगत्यत्र विश्वो-
पकाराय दिष्ट्योदयेते वहन्तौ ।
उरीकृत्य यत्तुर्यलोकोत्तमाज्ञां,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२२॥

अर्थ—जिन लोकोत्तम प्रभु की आज्ञा को अंगीकार करके चलने वाले सूर्य एवं चन्द्रमा इस विश्व के उपकारार्थ सद्भाग्य से उदय होते हैं, वे एक ही परमात्मा मेरी गति हों। (२२)

अवत्येव पातालजम्बालपातात्,
विधायापि सर्वज्ञलक्ष्मीनिवासान् ।
यदाज्ञाविधित्साश्रितानंगभाजः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२३॥

अर्थ—पालन की जाने की इच्छुक जिन भगवान् की आज्ञा भव्य प्राणियों को सर्वज्ञ लक्ष्मी के निवास रूप देहहीन बना कर अथवा जिन भगवान् की आज्ञा उसे पालन करने के इच्छुक प्राणियों को सर्वज्ञ लक्ष्मी का निवास रूप बना कर नरक-निगोद आदि के कीचड़ में गिरने से बचाती है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२३)

सुपर्वद्रुचिन्तामणिकामधेनु-
प्रभावा नृणां नैव दूरे भवन्ति ।
चतुर्थे यदुत्थे शिवे भक्तिभाजां,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेद्रः ॥२४॥

अर्थ—जिन भगवान् से प्रकट चौथे लोकोत्तर (मुक्ति रूपी भाव) कल्याण के सम्बन्ध में भक्ति-युक्त भव्य प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु प्रभाव भी दूर नहीं है, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२४)

कलिव्यालवह्निग्रहव्याधिचौर-
व्यथावारणव्याघ्रवीथ्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञाजुषां युग्मिनां जातु न स्युः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२५।।

अर्थ—जिन भगवान् के आज्ञा-पालक स्त्री-पुरुषों रूपी युग्मों को क्लेश, सर्प-भय, अग्नि-भय, ग्रह-पीड़ा, रोग, चोर का उपद्रव, गज-भय और व्याघ्र की श्रेणी अथवा व्याघ्र एवं मार्ग का भय आदि विघ्न कदापि नहीं होते, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु एक ही मेरी गति हों। (२५)

अबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वा-,
ऽप्यसद्वा मतो यैर्जडैः सर्वथाऽऽत्मा ।
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२६।।

अर्थ—जो जड़ मनुष्य आत्मा को सर्वथा कर्म-बंध रहित, एक, स्थिर, विनाशी अथवा असत् मानते हैं, उन मूढ़ मनुष्यों को जो भगवान् गोचर नहीं होते, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२६)

न वा दुःखगर्भे न वा मोहगर्भे,
स्थिता ज्ञानगर्भे तु वैराग्यतत्त्वे ।
यदाज्ञानिलीना ययुर्जन्मपारं,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२७।।

अर्थ—जिन भगवान् की आज्ञा दुःखगर्भित वैराग्य अथवा मोह-गर्भित वैराग्य में नहीं रही है, किन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्य तत्त्व में रही है तथा जिनकी आज्ञा में लीन हुए मनुष्यों ने जन्म-मरण रूप संसार-सागर का पार पा लिया है, वे एक ही श्री जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२७)

विहायास्रवं संवरं संश्रयैव,
यदाज्ञा पराऽभाजि यैर्निर्विशेषैः ।
स्वकस्तैरकार्यैव मोक्षो भवो वा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२८।।

अर्थ—जिन निर्विशेष (सामान्य) पुरुषों ने "हे जीव ! तू आस्रव को छोड़ कर संवर का आश्रय ले" इस प्रकार की जिन भगवान् की उत्कृष्ट आज्ञा का पालन किया है उन्होंने अपना भव/जन्म मोक्ष स्वरूप कर दिया

है, जीवन-मुक्त दशा प्राप्त की है, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हों। (२८)

शुभध्याननीरैरुरीकृत्य शौचं,
सदाचारदिव्यांशुकैर्भूषितांगाः।
बुधाः केचिदर्हन्ति यं देहगेहे,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२९।।

अर्थ—कोई पण्डित पुरुष शुभ ध्यान रूप जल से पवित्र हो और सदाचार रूपी दिव्य वस्त्रों से अंगों को अलंकृत करके अपनी देह रूपी मन्दिर में जिन भगवान् के स्वरूप की पूजा करते हैं, वे एक ही जिनेन्द्र भगवान् मेरी गति हों। (२९)

दयासूनृतास्तेयनिःसंगमुद्रा-,
तपोज्ञानशीलैर्गुरूपास्तिमुख्यैः।
शुभैरष्टभिर्योऽर्च्यते धाम्नि धन्यैः,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।३०।।

अर्थ—जो धन्य पुरुष दया, सत्य, अचौर्य, निःसंग मुद्रा, तप, ज्ञान, शील एवं गुरु की उपासना इन प्रमुख आठ पुष्पों से जिन भगवान् की ज्ञान-ज्योति में पूजा करते हैं, वे श्री जिनेन्द्र भगवान् एक ही मेरी गति हों। (३०)

महार्चिर्धनेशो महाज्ञा महेन्द्रो,
महाशान्तिभर्त्ता महासिद्धसेनः।
महाज्ञानवान् पावनीमूर्त्तिरर्हन्,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।३१।।

अर्थ—हे अर्हन्! आप परम ज्योतिर्मय हैं, कुबेर के समान आत्म-ऋद्धि के स्वामी हैं, महान् आज्ञायुक्त हैं, महेन्द्र रूप परम ऐश्वर्य के भोक्ता हैं, महा शान्त रस के नायक हैं, महान् सिद्धों के पर्यायों की सन्तति युक्त हैं, केवलज्ञानी हैं और सबको-पावन करने वाली मूर्ति से युक्त हैं, वे आप श्री जिनेन्द्र प्रभु ही मेरी गति रूप हों। (३१)

महाब्रह्मयोनिर्महासत्त्वमूर्त्ति-,
र्महाहंसराजो महादेवदेवः।
महामोहजेता महावीरनेता,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।३२।।

अर्थ--जो भगवान परब्रह्म के उत्पत्ति-स्थान हैं, जो महान् धैर्य की मूर्ति हैं, जो महान् चैतन्य के राजा हैं, जो चार निकायों के कर्मोपाधि से युक्त महान् देवों के भी देव हैं, जो महा मोहविजेता हैं और जो महावीर अर्थात् कर्मक्षय करने में महान् योद्धा के भी स्वामी हैं, वे श्री जिनेन्द्र प्रभु ही एक मेरी गति हों। (३२)

(उपसंहार काव्यम्)

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं ये परमात्मरूपमनिशं श्रीवर्द्धमानं जिनम्,
वन्दन्ते परमार्हतास्त्रिभुवने शान्तं परं दैवतम्।
तेषां सप्तभियः क्व सन्ति दलितं दुःखं चतुर्धाऽपि तै-
र्मुक्तैर्यत् सुगुणानुपेत्य वृणुते ताश्चक्रिशक्रश्रियः ॥३३॥

इस प्रकार जो परम श्रावक सदा तीन भुवन में शान्त परमात्म-स्वरूप एवं परम दैवत श्री वर्धमान प्रभु की वन्दना करते हैं, उन श्रावकों को सात प्रकार के भय तो भला कैसे हो सकते हैं ? परन्तु वे मुक्त होकर चार प्रकार के दुःखों का भी दलन कर देते हैं और अनन्त चतुष्टय आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करके चक्रवर्ती की एवं मोक्ष पर्यन्त की लक्ष्मियों का वरण करते हैं। (३३)

श्री उपमितिभवप्रपञ्चामहाकथा-रचयिता

श्री सिद्धर्षिगणिविरचितम्

* श्री जिनस्तवनम् *

अपारघोरसंसार - निमग्नजनतारक !
किमेष घोरसंसारे, नाथ ! तेविस्मृतो जनः ? ॥१॥

अपार महा भयंकर संसार-सागर में डूबे हुए प्राणियों के तारणहार हे नाथ ! इस भयानक संसार-सागर में क्या आप मुझे भूल गये ? (१)

सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबन्धव !
त्वयाऽस्य भुवनानन्द !, येनाद्यापि विलम्ब्यते ? ॥२॥

हे लोकबंधु ! तीनों भुवन को आनन्द देने वाले ! इस कारण मैंने सच्चे भाव से आपको स्वीकार किया है, फिर भी आप संसार से मेरा उद्धार करने में अब भी विलम्ब कर रहे हैं ? (२)

आपन्नशरणे दीने, करुणाऽमृतसागर !
न युक्तमीदृशं कर्तुं, जने नाथ ! भवादृशाम् ॥३॥

अहो करुणामृत सागर ! शरणागत दीन जन के साथ आपके जैसे को इस प्रकार व्यवहार करना किसी भी तरह उचित नहीं है। (३)

भीमेऽहं भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभः ।
विमुक्तो भवता नाथ !, किमेकाकी दयालुना ? ॥४॥

हे नाथ ! आपके समान दयालु स्वामी ने, इस भयंकर भव-वन में हिरन के बच्चे की तरह मुझे अकेला क्यों छोड़ दिया है ? (४)

इतश्चेतश्च निक्षिप्त - चक्षुस्तरलतारकः ।
निरालम्बो भयेनैव, विनश्येऽहं त्वया विना ॥५॥

इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ चंचल पुतली वाला निराधार एवं भयभीत बना हुआ मैं आपके बिना अवश्य नष्ट हो जाऊँगा। (५)

अनन्तवीर्यसम्भार !, जगदालम्बदायक !
विधेहि निर्भयं नाथ ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥६॥

हे अनन्त वीर्य के स्वामी ! विश्व के आलम्बन ! नाथ ! आप मुझे भव-वन से बाहर निकाल कर भय-मुक्त करें। (६)

न भास्करादृते नाथ ! कमलाकरबोधनम् ।
यथा तथा जगन्नेत्र !, त्वदृते नास्ति निर्वृतिः ॥७॥

हे नाथ ! जिस प्रकार कमल - वन को विकसित करने वाला सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, उसी प्रकार हे विश्व-चक्षु ! आपके अतिरिक्त किसी से भी मेरी मुक्ति होने वाली नहीं है। (७)

किमेष कर्मणां दोषः ?, किं ममैव दुरात्मनः ?
किं वाऽस्य हतकालस्य ?, किं वा मे नास्ति भव्यता ? ॥८॥

हे त्रिलोक-भूषण प्रभु ! क्या यह मेरे कर्मों का दोष है ? अथवा मुझ दुरात्मा का स्वयं का दोष है ? अथवा क्या इस अधम काल का दोष है ? अथवा क्या मेरे में भव्यत्व-भाव नहीं है ? (८)

किं वा सद्भक्तिनिर्ग्राह्य !, मद्भक्तिस्त्वयि तादृशी ।
निश्चलाऽद्यापि सम्पन्ना, न मे भुवनभूषण ! ॥९॥

अथवा हे सद्भक्ति से प्राप्त होने वाले भुवन-भूषण ! क्या अभी तक आपके प्रति मेरी ऐसी निश्चल भक्ति ही नहीं हुई है ? (९)

लीलादलितनिःशेषकर्मजाल ! कृपापर !
मुक्तिमर्थयते नाथ !, येनाद्यापि न दीयते ? ॥१०॥

लीला मात्र में समस्त कर्म-जाल को काट डालने वाले हे कृपालु भगवान् ! क्या उस कारण से मुक्ति माँगने पर भी आप अभी तक मुझे मुक्ति प्रदान नहीं करते ? (१०)

स्फुटं च जगदालम्ब !, नाथेदं ते निवेद्यते ।
नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ॥११॥

विश्व के आलम्बन हे प्रभु ! मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि इस लोक में आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मुझे शरणदाता नहीं है। (११)

त्वं माता त्वं पिता बन्धु-, स्त्व स्वामी त्वं च मे गुरुः ।
त्वमेव जगदानन्द !, जीवितं जीवितेश्वर ! ॥१२॥

हे जगदानन्द ! हे जीवितेश्वर ! आप मेरी माता हैं, आप मेरे पिता हैं, आप मेरे बंधु हैं, आप मेरे स्वामी हैं, आप मेरे गुरु हैं और आप ही मेरे जीवन हैं। (१२)

त्वयाऽवधीरितो नाथ !, मीनवज्जलवर्जिते ।
निराशो दैन्यमालम्ब्य, म्रियेऽहं जगतीतले ॥१३॥

हे नाथ ! आपसे तिरस्कृत बना मैं हताश होकर जल-विहीन मछली की तरह निराधार होकर पृथ्वी पर मृत्यु का ग्रास हो जाऊँगा। (१३)

स्वसंवेदनसिद्धं मे, निश्चले त्वयि मानसम् ।
साक्षाद्भूतान्यभावस्य, यद्वा किं ते निवेद्यताम् ? ॥१४॥

हे भगवान् ! आपको निश्चल पाकर मेरा मन आप में लीन हो गया है, इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है अथवा अन्य प्राणियों के भावों के साक्षात् ज्ञाता आपको क्या कुछ भी कहने की आवश्यकता है ? (१४)

मच्चित्तं पद्मवन्नाथ !, दृष्टे भुवनभास्करे ।
त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥१५॥

हे नाथ ! तीन भुवन में सूर्य के समान आपको देख कर कमल की तरह मेरा चित्त यहां कर्म-कोश को भेद कर अवश्य विकसित होता है।(१५)

अनन्तजन्तुसन्तान - व्यापाराक्षणिकस्य ते ।
ममोपरि जगन्नाथ !, न जाने कीदृशी दया ! ॥१६॥

हे जगन्नाथ ! अनन्त प्राणियों के समूह के व्यापार के सम्बन्ध में आप व्यापृत प्रभु की मुझ पर कैसी दया है, यह मैं नहीं जानता। (१६)

समुन्नते जगन्नाथ !, त्वयि सद्धर्मनीरदे ।
नृत्यत्येष मयूरा भो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिकः ॥१७॥

हे जगन्नाथ ! सद्धर्म रूपी बादलों के घिर आने से मेरे भुज-दण्ड रूपी मयूर नृत्य करने लगते हैं। (१७)

तदस्य किमियं भक्तिः ? किमुन्मादोऽयमीदृशः ?
दीयतां वचने नाथ !, कृपया मे निवेद्यताम् ॥१८॥

हे नाथ ! यह क्या उनकी भक्ति है अथवा पागलपन है ? आप अपने वचनों के द्वारा मुझे बतायें, कृपा करके मुझे कहें। (१८)

मञ्जरीराजिते नाथ !, सच्चूते कलकोकिल: ।
यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुल: ।।१६।।

हे नाथ ! मंजरी से सुशोभित आम के वृक्ष को देखकर जिस प्रकार मनोहर कोयल कल-कल की ध्वनि करने लगती है; (१६)

तथैष सरसानन्द-बिन्दुसन्दोहदायके ।
त्वयि दृष्टे भवत्येव, मूर्खोऽपि मुखरो जन: ।।२०।।
युग्मम्

उसी प्रकार से सरस आनन्द-बिन्दु के समूह को प्रदान करने वाले आपको देख कर यह मूर्ख व्यक्ति भी वाचाल हो जाता है। (२०)

तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिणम् ।
मत्वा जनं जगज्ज्येष्ठ !, सन्तो हि नतवत्सला: ।।२१।।

इस कारण जगत् के हे श्रेष्ठ पुरुष ! हे नाथ ! मुझे असम्बद्ध भाषण करने वाला मान कर मेरा तिरस्कार न करें, क्योंकि सन्त पुरुष नमन करने वाले प्राणियों के प्रति वत्सलता भाव वाले होते हैं। (२१)

किं बालोऽलीकवाचाल, आलजालं लपन्नपि ।
न जायते जगन्नाथ !, पितुरानन्दवर्धक: ? ।।२२।।

हे जगन्नाथ ! बालक अस्त-व्यस्त, सच्चा-मिथ्या अथवा पागल सा बोलता है तो भी क्या वह पिता के आनन्द में वृद्धि करने वाला नहीं होता ? (२२)

तथाऽश्लोलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽयं जनस्तव ।
किं विवर्धयते नाथ !, तोष किं नेति कथ्यताम् ? ।।२३।।

हे नाथ ! मैं अश्लील अक्षरों के उल्लाप स्वरूप जैसी तैसी भाषा में बोलता हूँ, जिससे आपके आनन्द में वृद्धि होती है अथवा नहीं, यह आप मुझे बतायें। (२३)

अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे ।
गर्ते सूकरसंकाशं, याति मे चटुलं मन: ।।२४।।

हे नाथ ! अनादिकालीन अभ्यास से मेरा चंचल मन विषय रूप अपवित्र कीचड़ में शूकर की तरह चला जाता है। (२४)

न चाहं नाथ ! शक्नोमि, तन्निवारयितुं चलम् ।
अतः प्रसीद तद्देवदेव ! वारय वारय ॥२५॥

हे नाथ ! मेरे इस चंचल मन को रोकने में मैं समर्थ नहीं हूँ। अतः हे देवाधिदेव ! मुझ पर कृपा करके उसे विषय रूपी अशुचि में जाने से रोको, रोको। (२५)

किं ममापि विकल्पोऽस्ति, नाथ ! तावकशासने ।
येनैवं लपतोऽधीश ! नोत्तरं मम दीयते ? ॥२६॥

हे नाथ ! क्या मुझे आपकी आज्ञा के सम्बन्ध में कोई सन्देह है ? जिसके परिणाम से मैं इतना कहता हूँ तो भी आप मुझे उत्तर नहीं दे रहे हैं ? (२६)

आरूढमीयतीं कोटीं, तव किङ्करतां गतम् ।
मामप्येतेऽनुधावन्ति, किमद्यापि परीषहाः ? ॥२७॥

हे नाथ ! मैं आपका सेवक-पद पा गया—इतने स्तर तक मैं आगे बढ़ा, तो भी अभी तक ये परीषह मेरा पीछा कर रहे हैं, उसका क्या कारण है ? (२७)

किं चामी प्रणताशेष– जनवीर्यविधायक ! ।
उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठं मुञ्चन्ति नो खलाः ? ॥२८॥

समस्त जनों के वीर्य को उत्पन्न करने वाले हे नाथ ! ये दुष्ट उपसर्ग अभी तक मेरा पीछा क्यों नहीं छोड़ते ? (२८)

पश्यन्नपि जगत्सर्वं, नाथ ! पुरतः संस्थितम् ।
कषायारातिवर्गेण, किं न पश्यसि पीडितम् ? ॥२९॥

हे नाथ ! अखिल विश्व को आप देख रहे हैं, फिर भी आपके सम्मुख खड़े हुए तथा कषाय रूपी शत्रुओं से पीड़ित इस सेवक को आप क्यों नहीं देखते ? (२९)

कषायाभिद्रुतं वीक्ष्य, मां हि कारुणिकस्य ते ।
विमोचने समर्थस्य, नोपेक्षा नाथ ! युज्यते ॥३०॥

हे नाथ ! मुझे कषायों से पीड़ित देख कर भी और उनसे छुड़ाने में समर्थ होते हुए भी आप जैसे दयालु को मेरी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (३०)

विलोकिते महाभाग !, त्वयि संसारपारगे।
आसितुं क्षणमप्येकं, संसारे नास्ति मे रतिः ॥३१॥

हे महाभाग ! संसार से मुक्त हुए आपको देखने के पश्चात् इस संसार में एक क्षण भर के लिए भी रहने की मेरी रुचि नहीं है। (३१)

किं तु किं करवाणीह ? नाथ ! मामेष दारुणः।
आन्तरो रिपुसंघातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम् ॥३२॥

किन्तु हे नाथ ! मैं क्या करूं ? इन अन्तरंग शत्रुओं का समूह मुझे कठोरता से सत्वर बांध लेता है। (३२)

विधाय मयि कारुण्यं, तदेनं विनिवारय।
उद्दामलीलया नाथ ! येनागच्छामि तेऽन्तिके ॥३३॥

हे नाथ ! मुझ पर कृपा करके उस शत्रु-समूह को प्रचंड लीला से दूर करो, जिससे मैं आपके समीप पहुँच सकूं। (३३)

तवायत्तो भवो धीर !, भवोत्तारोऽपि ते वशः।
एवं व्यवस्थिते किं वा, स्थीयते परमेश्वरः ? ॥३४॥

हे धीर ! यह संसार आपके आधार पर है और इस संसार से उद्धार होना भी आपके अधीन है। तो फिर हे परमेश्वर ! आप शान्त क्यों बैठे हैं ? (३४)

तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधीयताम्।
नाथ ! निर्गतिकोल्लापं, न शृण्वन्ति भवादृशाः ॥३५॥

अतः अब मुझे संसार से पार करो, विलम्ब मत करो। हे नाथ ! जिसका अन्य कोई आधार नहीं है, ऐसे मेरे जैसे व्यक्ति के उद्गार क्या आप जैसे नहीं सुनेंगे। (३५)

——

सिद्धसारस्वतमहाकविश्रीधनपालविरचिता

श्रीऋषभपंचाशिका

जयजंतुकप्पपायव ! चंदायव ! रागपंकयवरणस्स ।
सयलमुणिगामगामणि ! तिलोअचूडामणि ! नमो ते ।।१।।

(जगज्जन्तुकल्पपादप ! चन्द्रातप ! रागपङ्कजवनस्य ।
सकलमुनिग्राम-ग्रामणी-स्त्रिलोकचूडामणे ! नमस्ते ।।)

विश्व के जीवों को वांछित फल प्रदान करने वाले होने के कारण हे कल्पवृक्ष के समान योगीश्वर !, राग रूपी सूर्य से विकसित होने वाले (कमलों के वन को) उन्मीलित करने वाले होने से (चन्द्रप्रभा) तुल्य परमेश्वर !, हे, सकल कला युक्त मुनिगण के नायक !, हे स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल (अथवा अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक) रूपी त्रिभुवन की (सिद्ध शिला रूपी) चूडा के लिये (उसके शाश्वत मण्डन रूप होने के कारण) मणि तुल्य ऋषभदेव स्वामिन् ! आपको मेरा त्रिकरण शुद्धि पूर्वक नमस्कार हो ! (१)

जयरोसजलणजलहर !, कुलहर ! वरणाणदंसणसिरीणं ।
मोहतिमिरोहदिणयर !, नयर ! गुणगणाण पउराणं ।।२।।

(जय रोषज्वलनजलधर ! कुलगृह ! वरज्ञानदर्शनश्रियोः ।
मोहतिमिरौघदिनकर ! नगर ! गुणगणानां पौराणाम् ।।)

हे क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने में मेघ के समान !, हे उत्तम (अप्रतिपाति) ज्ञान एव दर्शन रूपी लक्ष्मियों के आनन्दार्थ कुलगृह तुल्य !, हे अज्ञान रूपी अंधकार के समूह का अन्त करने में सूर्य के समान !, हे (तप, प्रशम आदि) गुणों के समुदाय स्वरूप नागरिकों के नगर तुल्य ! आपकी जय हो, आप सर्वोत्कृष्ट हों । (२)

दिट्ठो कहवि विहडिए, गंठिम्मि कवाडसंपुडघणंमि ।
मोहंधयारचारयगएण जिण ! दिणयरुव्व तुमं ।।३।।
(दृष्टः कथमपि विघटिते ग्रन्थौ कपाटसम्पुटघने ।
मोहान्धकारचारकगतेन जिन ! दिनकर इव त्वम् ।।)

अनेक भवों से एकत्रित होने से द्वार के युगल जैसी गाढ़ राग-द्वेष के परिणाम स्वरूप गांठ का जब अत्यधिक परिश्रम से नाश हुआ, तब हे जिनेश्वर ! २८ प्रकार के मोह रूपी अंधकार से व्याप्त कारागृह में मुझे सूर्य के समान आपका दर्शन हुआ । (३)

भविअकमलाण जिणरवि ! दंसणपहरिसूससंताणं ।
दढबद्धा इव विहडंति, मोहतम-भमरविंदाइं ।।४।।
(भव्यकमलेभ्यो जिनरवे ! त्वद्दर्शनप्रहर्षोच्छ्वसद्भ्यः ।
दृढबद्धानीव विघटन्ते मोहतमोभ्रमरवृन्दानि ।।)

मिथ्यात्वरूपी रात्रि का नाश करने वाले एवं सुमार्ग की ज्योति फैलाने वाले हे जिन-सूर्य ! आपके दर्शन रूपी प्रकृष्ट आनन्द से विकसित भव्य कमलों से दृढता पूर्वक बँधे हुए मोह अंधकार रूपी भौरों के समूह मुक्त हो जाते हैं । (४)

लट्ठत्तणाहिमाणो, सव्वो सव्वट्ठसुरविमाणस्स ।
पइं नाह ! नाहिकुलगर-, घरावयारुम्मुहे नट्ठो ।।५।।
(शोभनत्वाभिमानः सर्वः सर्वार्थसुरविमानस्य ।
त्वयि नाथ ! नाभिकुलकर,-गृहावतारोन्मुखे नष्टः ।।)

हे नाथ ! जब आपने नाभि कुलकर के घर में अवतार लिया, तब सर्वार्थसिद्ध नामक देव विमान का सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त गर्व चूर-चूर हो गया । (५)

पइं चिंतादुल्लहमुक्खसुक्खफलए अउव्वकप्पदुमे ।
अवइन्ने कप्पतरू जयगुरु ! हित्था इव पओत्था ।।६।।
(त्वयि चिन्तादुर्लभमोक्षसुखफलदेऽपूर्वकल्पद्रुमे ।
अवतीर्णे कल्पतरवो जगद्गुरो ! ह्रीस्था इव प्रोषिताः ।।)

संकल्प से दुर्लभ मोक्ष-सुख रूपी फल प्रदान करने वाले आप अपूर्व कल्पवृक्ष अवतीर्ण हुए, जिससे हे जगद्गुरु ! कल्पवृक्ष मानो लज्जित हो गये हों उस प्रकार अदृश्य हो गये। (६)

अरएणं तइएणं, इमाइ ओसप्पिणीइ तुह जम्मे।
फुरिअं कणगमएणं, व कालचक्किक्कपासंमि ।।७।।
(अरकेण तृतीयेनास्यामवसर्प्पिण्यां तव जन्मनि।
स्फुरितं कनकमयेनेव कालचक्रैकपार्श्वे ।।)

कालचक्र के एक ओर इस अवसर्पिणी काल में आपके जन्म से तीसरा आरा स्वर्णमय जैसे सुशोभित रहा। (७)

जम्मि तुमं अहिसित्तो, जत्थ य सिवसुक्खसंपयं पत्तो।
ते अट्ठावयसेला, सीसामेला गिरिकुलस्स ।।८।।
(यत्र त्वमभिषिक्तो यत्र च शिवसुखसंपदं प्राप्तः।
तवाष्टापदशैलौ, शीर्षापीडौ गिरिकुलस्य ।।)

जिस स्वर्ण-गिरि पर आपका जन्माभिषेक हुआ वह एक अष्टापद (मेरु) पर्वत तथा जहाँ आपने शिव-सुख की सम्पत्ति प्राप्त की अर्थात् जहाँ आपका निर्वाण हुआ वह विनीता नगरी के समीपस्थ आठ सीढ़ियों वाला दूसरा अष्टापद पर्वत—ये दोनों पर्वत समस्त पर्वतों के समूह के मस्तक पर मुकुट स्वरूप हो गये। (८)

धन्ना सविम्हयं जेहिं, झत्ति कयरज्जमज्जणो हरिणा।
चिरधरिअनलिणपत्ताऽभिसेअसलिलेहिं दिट्ठो सि ।।९।।
(धन्याः सविस्मयं यैर्झटिति कृतराज्यमज्जनो हरिणा।
चिरधृतनलिनपत्राभिषेकसलिलैर्दृष्टोऽसि ।।)

हे जगन्नाथ ! इन्द्र के द्वारा शीघ्र राज्याभिषेक किये गये आपको दीर्घ काल तक कमल के पत्तों के द्वारा अभिषेक (जलधारण) किये हुए जिन युगलिकों ने देखा वे धन्य हैं। (९)

दाविअविज्जासिप्पो, वज्जरिआसेसलोअववहारो।
जाओ सि जाण सामिअ, पयाओ ताओ कयत्थाओ ।।१०।।
(दर्शितविद्याशिल्पो व्याकृतशेषलोकव्यवहारः।
जातोऽसि यासां स्वामी प्रजास्ताः कृतार्थाः ।।)

जिन्होंने (शब्द, लेखन, गणित, गीत आदि) विद्याएँ एवं (कुम्भकार आदि) शिल्प बताये हैं, तथा जिन्होंने (कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, विवाह आदि) समस्त प्रकार का लोक-व्यवहार भी समुचित प्रकार से समझाया है, ऐसे आप जिन प्रजा-जनों के स्वामी हुए हैं, वे प्रजाजन भी कृतार्थ हैं। (१०)

बंधुविहत्तवसुमई, वच्छरमच्छिन्नदिन्नधणनिवहो ।
जह तं तह को अन्नो, निअमधुरं धीर ! पडिवन्नो ॥११॥
(बन्धुविभक्तवसुमतिः वत्सरमच्छिन्नदत्तधननिवहः ।
यथा त्वं तथा कोऽन्यो नियमधुरां धीर ! प्रतिपन्नः ॥)

जिन्होंने (भरत आदि पुत्रों एवं सामन्तों रूपी) बन्धुओं में पृथ्वी का विभाजन कर दिया और जिन्होंने निरन्तर एक वर्ष तक धन का दान किया है, ऐसे आपने जिस प्रकार (दीक्षा के समय समस्त पापपूर्ण आचरण के त्याग की) नियमधुरा को धारण किया, उस प्रकार हे धीर ! अन्य कौन धारण कर सकता है ? (११)

सोहसि पसाहिअंसो, कज्जलकसिणाहिं जयगुरु जडाहिं ।
उवगूढविसज्जिअरायलच्छिबाहच्छडाहिं व ॥१२॥
(शोभसे प्रसाधितांसः कज्जलकृष्णाभिर्जगद्गुरो जटाभिः ।
उपगूढविसर्जितराजलक्ष्मीबाष्पच्छटाभिरिव ॥)

हे जगद्गुरु ! राज्यकाल में आलिंगन की हुई और दीक्षा-काल में त्याग की गई राज्य-लक्ष्मी की मानो अश्रुधारा ही हो उस प्रकार की काजल के समान श्याम जटा से अलंकृत स्कधयुक्त आप सुशोभित हो रहे हैं। (१२)

उवसामिआ अणज्जा, देसेसु तए पवन्नमोणेणं ।
अभणंत च्चिअ कज्जं, परस्स साहंति सप्पुरिसा ॥१३॥
(उपशमिता अनार्या देशेषु त्वया प्रपन्नमौनेन ।
अभणन्त एव कार्यं परस्य साधयन्ति सत्पुरुषाः ॥)

हे नाथ ! आपने (बहली, अडम्ब, इल्लायोनक आदि अनार्य देशों में) अनार्यों को मौन धारण करके शान्त किये वह सचमुच एक आश्चर्य है; (क्योंकि किसी को भी शान्त करने का उपाय वाक्-चातुर्य है, अथवा यह

बात न्याय-संगत है क्यों) कि सत्पुरुष नहीं बोलते हैं तो भी वे अन्य जीवों का कार्य कर देते हैं। (१३)

मुणिणो वि तुहल्लीणा, नमिविनमी खेअराहिवा जाया।
गुरुआण चलणसेवा, न निप्फला होइ कइआ वि ॥ १४ ॥
(मुनेरपि तवालीनौ नमिविनमो खेचराधिपौ जातौ।
गुरुकाणां चरणसेवा न निष्फला भवति कदापि ॥)

मुनि बने आपके चरणों में अत्यन्त लीन हुए नमि और विनमि खेचर-पति हुए, क्योंकि गुरुओं को (सच्चे अन्तःकरण से की गई) चरण-सेवा कदापि निष्फल नहीं जाती। (१४)

भद्दं से सेअंसस्स, जेण तवसोसिओ निराहारो।
वरिसंते निव्वविओ, मेहेण व वणदुमो तं सि ॥ १५ ॥
(भद्रं तस्य श्रेयांसस्य येन तपः शोषितो निराहारः।
वर्षान्ते निर्वापितो मेघेनेव वनद्रुमस्त्वमसि ॥)

जिस प्रकार वन वृक्षों को मेघ तृप्त करते हैं, उसी प्रकार से जिसने तपस्या से सूखे हुए (कृश हुए) आपको एक वर्ष के अन्त में (इक्षु-रस से) शान्त किया, उस श्रेयांस कुमार का कल्याण हो। (१५)

उत्पन्नविमलनाणे, तुमंमि भवणस्स विअलिओ मोहो ।
सयलुग्गयसूरे वासरंमि गयणस्स व तमोहो ॥ १६ ॥
(उत्पन्नविमलज्ञाने त्वयि भुवनस्य विगलितो मोहः ।
सकलोद्गतसूर्ये वासरे गगनस्येव तमौघः ॥)

जिस प्रकार पूर्ण सूर्योदय युक्त दिन में गगन के अंधकार का समूह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार से हे नाथ ! आपको जब निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब विश्व में (बसने वाले प्राणियों का सांसारिक) मोह नष्ट हो गया। (१६)

पूआवसरे सरिसो, दिट्ठो चक्कस्स तं पि भरहेण।
विसमा हु विसयतिण्हा, गुरुआण वि कुणइ मइमोहं ॥ १७ ॥
(पूजावसरे सदृशो दृष्टश्चक्रस्य त्वमपि भरतेन ।।
विषमा खलु विषयतृष्णा गुरुकाणामपि करोति मतिमोहम् ॥)

हे भुवन-प्रदीप ! केवलज्ञान की पूजा के समय भरत ने आपको भी चक्र रत्न के समान देखा, क्योंकि विषय-तृष्णा पूज्य जनों को भी मति विभ्रम कराती है। (१७)

> **पढमसमोसरणमुहे, तुह केवलसुरवहूकओज्जोआ ।**
> **जाया अग्गेई दिसा, सेवासयमागयसिहि व्व ।। १८ ।।**
> **(प्रथमसमवसरणमुखे तव केवल सुरवधू कृतोद्योता ।**
> **जाता आग्नेयी दिशा सेवास्वयमागतशिखीव ।।)**

आपके प्रथम समवसरण के महोत्सव में केवल सुर-सुन्दरियों (की द्युति से) प्रकाशित अग्नि दिशा भक्ति से आकर्षित हो कर स्वतः ही आये हुए अग्नि देव के समान हो गई। (१८)

> **गहिअवयभंगमलिणो, नूणं दूरोणएहिं मुहराओ ।**
> **ठवि(ई) ओ पढमिल्लुअतावसेहिं तुह देसणे पढमे ।। १९ ।।**
> **(गृहीतव्रतभङ्गमलिनो नूनं दुरावनतैर्मुखरागः ।**
> **स्थगितः प्रथमोत्पन्नतापसैस्तव दर्शने प्रथमे ।।)**

केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् समवसरण में आपके प्रथम दर्शन होने पर, प्रथम उत्पन्न हुए अत्यन्त विनम्र तापसों ने आपके साथ दीक्षा के समय ग्रहण किये हुए संयम व्रत के भंग से मलिन बना अपना चेहरा (नमस्कार के बहाने) सचमुच ढ़क दिया। (१९)

> **तेहिं परिवेढिएण य, वूढा तुमए खणं कुलवइस्स ।**
> **सोहा विअडंसत्थल — घोलंतजडाकलावेण ।। २० ।।**
> **(तैः परिवेष्टितेन च व्यूढा त्वया क्षणं कुलपतेः ।**
> **शोभा विकटांसस्थलप्रेंखज्जटाकलापेन ।।)**

तथा (वंदनार्थ आये) उन तापसों से घिरे हुए और विशाल स्कंध-प्रदेश को स्पर्श करती जटा-समूह युक्त आप क्षण भर के लिए कुलपति के रूप में सुशोभित हुए। (२०)

> **तुह रूवं पिच्छंता, न हुंति जे नाह ! हरिसपडिहत्था ।**
> **समणा वि गयमण च्चिय, ते केवलिणो जइ न हुंति ।। २१ ।।**
> **(तव रूपं पश्यन्तो न भवन्ति ये नाथ ! हर्षपरिपूर्णाः ।**
> **समनस्का अपि गतमनस्का एव ते केवलिनो यदि न भवन्ति ।।)**

हे नाथ ! आपका (सर्वोत्तम) रूप अवलोकन करने वाले (जीव) यदि हर्षित नहीं होते तो, यदि वे सर्वज्ञ न हों तो फिर वे संज्ञी होते हुए भी सचमुच असंज्ञी हैं। (२१)

पत्ता णिस्सामन्नं, समुन्नइं जेहिं देवया अन्ने ।
ते दिंति तुम्ह गुणसंकहासु हासं गुणा मज्झ ॥ २२ ॥
(प्राप्ता निःसामान्यां समुन्नतिं यैर्देवका अन्ये ।
ते ददते तव गुणसंकथासु हासं गुणा मम ॥)

जिन गुणों के द्वारा अन्य देवों ने असाधारण प्रभुता प्राप्त की वे (कल्पित) गुण आपके (सद्भूत) गुणों के संकीर्तन के समक्ष मुझे हास्य उत्पन्न करते हैं। (हरि, हर आदि की प्रभुता कल्पित है, जब कि आपकी प्रभुता का आधार वास्तविक गुण हैं।) (२२)

दोसरहिअस्स तुह जिण ! निंदावसरंमि भग्गपसराए ।
वायाइ वयणकुसलावि, बालिसायंति मच्छरिणो ॥ २३ ॥
(दोषरहितस्य तव जिन ! निन्दावसरे भग्नप्रसरया ।
वाचा वचनकुशला अपि बालिशायन्ते मत्सरिणः ॥)

हे जिनेश्वर ! वचन कहने में कुशल मत्सरी लोग भी सर्वथा दोष हीन आपकी निन्दा करने के समय भग्न प्रसार वाली वाणी से चाहे जैसा बोल कर बालक की तरह चेष्टा करते हैं। (२३)

अणुरायपल्लविल्ले, रइवल्लिफुरंतहासकुसुमंमि ।
तवताविआ वि न मणो, सिंगारवणे तुहल्लीणो ॥ २४ ॥
(अनुरागपल्लववति रतिवल्लिस्फुरद्धासकुसुमे ।
तपस्तापितमपि न मनः शृंगारवने तव लीनम् ॥)

अनुराग रूपी पल्लवों से युक्त और रति रूपी लता पर खिलने वाले हास्य रूपी पुष्पों से युक्त शृंगार रूपी वन में अनशन आदि तपस्या रूपी ताप से तप्त आपका मन वहाँ लगा नहीं। (यह आश्चर्य है क्योंकि ग्रीष्म ऋतु के ताप से तप्त जन तो वन का आश्रय लेते हैं।) (२४)

आणा जस्स विलइआ, सीसे सेस व्व हरिहरेंहि पि ।
सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं विअ विलीणो ।। २५ ।।

(आज्ञा यस्य विलगिता शीर्षे शेषेव हरिहराभ्यामपि ।
सोऽपि तव ध्यानज्वलने मदनो मदनमिव विलीनः ।।)

जिसकी आज्ञा को हरि एवं हर ने भी शेषनाग की तरह शिरोधार्य की है, वह (अप्रतिहत सामर्थ्य वाला) मदन भी आपके शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि में मोम की तरह पिघल गया। (२५)

पइं नवरि निरभिमाणा, जाया जयदप्पभंजणत्ताणा ।
वम्महर्नारदजोहा, दिट्ठिच्छोहा मयच्छीणं ।। २६ ।।

(त्वयि केवलं निरभिमाना जाता जगद्दर्पभञ्जोत्ताना: ।
मन्मथनरेन्द्रयोद्धा दृष्टिक्षोभा मृगाक्षीणाम् ।।)

विश्व के दर्प को चूर करने में समर्थ कंदर्प राजा के योद्धा स्वरूप मृगाक्षियों के कटाक्ष केवल आपके सम्बन्ध में ही निरभिमानी रहे हैं, अर्थात् सफल नहीं हुए। (२६)

विसमा रागद्दोसा, निंता तुरय व्व उप्पहेण मणं ।
ठायंति धम्मसारहि ! दिट्ठे तुह पवयणे नवरं ।।२७।।

(विषमौ रागद्वेषौ नयन्तौ तुरगाविवोत्पथेन मनः ।
तिष्ठतो धर्मसारथे ! दृष्टे तव प्रवचने केवलम् ।।)

जिस प्रकार मिथ्या मार्ग पर (रथ को) लेजाने वाले अश्व, सारथी की चाबुक देख कर सीधे मार्ग पर जाने लगते हैं, उसी प्रकार से धर्म रूपी रथ के हे सारथी ! जब आपके प्रवचन, सिद्धान्त के दर्शन होते हैं तब चित्त को कुमार्ग की ओर ले जाने वाले विषम राग एवं द्वेष रुक जाते हैं अर्थात् उनका कोई जोर नहीं चलता। (२७)

पच्चलकसायचोरे, सइसंनिहिआसिचक्कधणुरेहा ।
हुंति तुह च्चिअ चलणा, सरणं भीआण भवरन्ने ।।२८।।

(प्रत्यलकषायचौरेः सदासन्निहितासिचक्रधनूरेखौ ।
भवतस्तवैव चरणौ शरणं भीतानां भवारण्ये ।।)

हे भगवन् ! जिसमें प्रबल कषाय रूप चोर बसते हैं ऐसे भव-वन में भयभीत जीवों को तलवार, चक्र एवं धनुष रूपी रेखाओं से सदा लांछित आपके ही चरण शरण स्वरूप हैं। (२८)

तुह समयसरब्भट्ठा, भमंति सयलासु रुक्खजाईसु।
सारणिजलं व जीवा, ठाणट्ठाणेसु बज्झंता ।।२९।।
(तव समयसरोभ्रष्टा भ्राम्यन्ति सकलासु रूक्षजातिषु।
सारणिजलमिव जीवाः स्थानस्थानेषु बध्यमानाः ।।)

जिस प्रकार सारणी (नीक) का जल समस्त वृक्ष जातियों में स्थान-स्थान पर बंधा हुआ फिरता है उसी प्रकार से हे नाथ ! आपके सिद्धान्त रूप सरोवर से भ्रष्ट जीव चौरासी लाख जीव योनि रूप सकल रुक्ष जाति/कठोर उत्पत्ति स्थानों में कर्मों के द्वारा स्थान-स्थान पर बंधे हुए भ्रमण करते हैं। (२९)

सलिल (लि) व्व पवयणे तुह, गहिए उड्ढं अहो विमुक्कम्मि।
वच्चंति नाह ! कूवय - रहट्टघडिसंनिहा जीवा ।।३०।।
(सलिल इव प्रवचने तव गृहीते ऊर्ध्वमधो विमुक्ते।
व्रजन्ति नाथ ! कूपकारघट्टघटीसन्निभा जीवाः ।।)

हे नाथ ! कुँए के अरघट्ट की घटी के समान जीव आपके प्रवचन को जब जल के समान ग्रहण करते हैं तब वे ऊपर (स्वर्ग अथवा मोक्ष में) जाते हैं और जब उन्हें छोड़ देते हैं तब नीचे (तिर्यंच अथवा नरक में) जाते हैं। (३०)

लीलाइ निंति मुक्खं, अन्ने जह तित्थिआ तहा न तुमं।
तहवि तुह मग्गलग्गा, मग्गंति बुहा सिवसुहाइं ।।३१।।
(लीलया नयन्ति मोक्षमन्ये यथा तीर्थिकाः तथा न त्वम्।
तथापि तव मार्गलग्ना, मृगयन्ते बुधज्ञः शिवसुखानि ।।)

जिस प्रकार अन्य बौद्ध आदि दार्शनिक लीला पूर्वक जीवों को मोक्ष में ले जाते हैं उस प्रकार आप नहीं करते हैं, तो भी विचक्षण जन यथार्थ दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप आपके मार्ग में लगे हुए मोक्ष-सुखों को खोजते हैं। (३१)

सारिव्व बंधवहमरणभाइणो जिण ! न हुंति पइं दिट्ठे ।
अक्खेहिं वि हीरंता, जीवा संसारफलयम्मि ।। ३२।।
(शारय इव बन्धवधमरणभागिनो जिन ! भवन्ति त्वयि दृष्टे ।
अक्षैरपि ह्रियमाणा जीवाः संसारफलके ।।)

जिस प्रकार पाशों से खिंचे हुए मोहरे बंध, वध, एवं मृत्यु के भाजन बनते हैं उसी प्रकार से हे जिनेश्वर ! इस संसार रूपी फलक में इन्द्रिय रूपी मोहरों से गतियों में भ्रमण करते जीव जब आपको (यथार्थ बुद्धि के द्वारा) देखते हैं तब वे (तिर्यंच और नरक गति से सम्बन्धित) बंध, वध, एवं मृत्यु के भागी नहीं होते । (३२)

अवहीरिआ तए पहु ! निंति निओगिक्कसंखलाबद्धा ।
कालमणंतं सत्ता, समं कयाहारनीहारा ।।३३।।
(अवधोरितास्त्वया प्रभो ! नयन्ति निगोदैकश्रृङ्खलाबद्धाः ।
कालमनन्तं सत्त्वाः समं कृताहारनीहाराः ।।)

(जिस प्रकार कुछ राजपुरुष राजा की अवहेलना होने पर कारागृह में लोहे की जंजीरों में बँध कर अन्य कैदियों के साथ सम काल में आहार एव नीहार की क्रियाएँ करने में अत्यन्त समय खोते हैं उसी प्रकार से) हे नाथ ! (अव्यवहार राशि के कारण साधन के अभाव में धर्मोपदेश से वंचित रहने के कारण) आप द्वारा तिरस्कृत जीव निगोद रूपी एक ही जंजीर से बँध कर एक साथ आहार-नीहार करने में अनन्त काल खोते हैं । (३३)

जेहिं तविआणं तव-निहि ! जासइ परमा तुमम्मि पडिवत्ती ।
दुक्खाइं ताइं मन्ने, न हुंति कम्मं अहम्मस्स ।।३४।।
(यैस्तापितानां तपोनिधे ! जायते परमा त्वयि प्रतिपत्तिः ।
दुःखानि तानि मन्ये न भवन्ति कर्माधर्मस्य ।।)

हे तपोनिधि ! जिन दुःखों से पीड़ित जीवों को आपके प्रति आन्तरिक प्रेम उत्पन्न होता है, वे दुःख अधर्म के कार्य नहीं हैं, (परन्तु वे पुण्यानुबंधी होने से उल्टे प्रशंसनीय हैं) यह मैं मानता हूँ । (३४)

होही मोहुच्छेओ, तुह सेवाए धुव त्ति नंदामि ।
जं पुण न वंदिअव्वो, तत्थ तुमं तेण झिज्जामि ।।३५।।

(भविष्यति मोहोच्छेदस्तव सेवया ध्रुव इति नन्दामि ।
यत् पुनर्न वन्दितव्यस्तत्र त्वं तेन क्षीये ।।)

आपकी सेवा में मेरा मोह अवश्य नष्ट होगा, इस बात का मुझे हर्ष है, परन्तु (मोहोच्छेद होने पर मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा और केवलज्ञानी केवलज्ञानी को नमन नहीं करता यह नियम होने से मुझ पर अनुपम उपकार करने वाले) आपको भी मैं वन्दन नहीं कर सकूँगा, अतः मैं क्षीण हो रहा हूँ, शोकाकुल हो रहा हूँ। (३५)

जा तुह सेवाविमुहस्स, हुंतु मा ताउ मह समिद्धीओ ।
अहिआरसंपया इव, पेरंतविडबणफलाओ ।।३६।।

(यास्तव सेवाविमुखस्य भवन्तु मा ता मम समृद्धयः ।
अधिकारसंपद इव पर्यन्तविडम्बनफलाः ।।)

अन्त में विडम्बना स्वरूप फलदायक राज्याधिकार की सम्पत्तियों के समान सम्पत्ति आपकी सेवा से विमुख (सर्वथा जिन-धर्म से रहित प्रथम गुण स्थान पर रहने वाले मनुष्य आदि) को होती हैं, वे सम्पत्ति मुझे प्राप्त न हों। (३६)

भित्तूण तमं दीवो, देव ! पयत्थे जणस्स पयडेइ ।
तुह पुण विवरीयमिणं, जईक्कदीवस्स निव्वडिअं ।।३७।।

(भित्वा तमो दीपो देव ! पदार्थान् जनस्य प्रकटयति ।
तव पुनर्विपरीतमिदं जगदेकदीपस्य निष्पन्नम् ।।)

हे देव ! दीपक अंधकार को भेद कर मनुष्य को पदार्थ देखने में सहायता करता है, परन्तु विश्व के अद्वितीय दीपक स्वरूप आपका यह (दीपक कार्य) तो विपरीत है, (क्योंकि आप तो प्रथम उपदेश रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवों को जीव-अजीव आदि पदार्थों का बोध कराते हैं, और तत्पश्चात् उस प्रकार उन्हें यथार्थ ज्ञान देकर उनके अज्ञान रूपी अंधकार का अन्त करते हैं।) (३७)

मिच्छत्तविसपसुत्ता, सचेयणा जिण ! न हुंति किं जीवा ?
कण्णम्मि कमइ जइ किंत्तिग्रं पि तुह वयणमन्तस्स ।।३८।।
(मिथ्यात्वविषप्रसुप्ताः सचेतना जिन ! न भवन्ति किं जीवाः ?
कर्णयोः क्रामति यदि कियदपि तव वचनमन्त्रस्य ।।)

यदि मिथ्यात्व रूपी विष से मूर्छित जीवों के कानों में हे वीतराग ! ग्रापकी वाणी रूपी मन्त्र का ग्रमुक ग्रंश भी प्रविष्ट हो तो वे जीव (भी रोहिणेय चोर तथा चिलाती पुत्र की तरह) क्या सचेत नहीं होते ? (३८)

ग्रायन्निग्रा खणद्धं, पि पइं थिरं ते करंति ग्रणुरायं ।
परसमया तहवि मणं, तुह समयन्नूण न हरंति ।।३९।।
(ग्राकर्णिताः क्षणार्धमपि त्वयि स्थिरं ते कुर्वन्त्यनुरागम् ।
परसमयास्तथापि मनस्त्वत्समयज्ञानां न हरन्ति ।।)

ग्रन्य (वैशेषिक, नैयायिक, जैमिनीय, सांख्य, सौगत प्रमुख) दार्श-निकों के ग्रागम ग्राधे क्षण तक श्रवण करने पर भी ग्रापके प्रति हमारा ग्रनुराग स्थिर रहता है ग्रौर जिससे ग्रापके सिद्धांतों के ज्ञाताग्रों के चित्त वे हर नहीं पाते । (३९)

वाईहिं परिग्गहिग्रा, करंति विमुहं खणेण पडिवक्खं ।
तुज्झ नया नाह ! महागय व्व ग्रन्नुन्नसंलग्गा ।।४०।।
(वादिभिः परिगृहीताः कुर्वन्ति विमुखं क्षणेन प्रतिपक्षम् ।
तव नया नाथ ! महागजा इवान्योन्यसंलग्नाः ।।)

हे नाथ ! ग्रश्वों से घिरे हुए तथा परस्पर मिले हुए महान् गज जिस प्रकार शत्रु-सेना को रणभूमि में से पीछे हटाते हैं उस प्रकार से ग्रत्यन्त चतुर एवं वाद-लब्धि से ग्रलंकृत वादियों के द्वारा स्वीकार करते हुए तथा परस्पर संगत से ग्रापके नय क्षण भर में प्रतिपक्ष को (वाद-विवाद के क्षेत्र से) विमुख करते है । (४०)

पावंति जसं ग्रसमंजसा वि वयणेहिं जेहिं परसमया ।
तुह समयमहो ग्रहिणो, ते मंदा बिंदुनिस्संदा ।।४१।।
(प्राप्नुवन्ति यशोऽसमञ्जसा ग्रपि वचनैर्यैः परसमयाः ।
तव समयमहोदधेस्ते मन्दा बिंदुनिस्यन्दाः ।।)

अन्य दार्शनिकों के युक्तिविकल सिद्धांत भी (सूर्य-चन्द्र के ग्रहण आदि बता कर) जिन वचनों के द्वारा यश प्राप्त करते हैं, वे वचन सिद्धान्त रूपी महासागर के सामान्य बिन्दुओं की बूँदे हैं। (४१)

पइ मुक्के पोअम्मिव, जीवेहिं भवन्नवम्मि पत्ताओ।
अणुवेलमावयामुहपडिएहिं विडम्बणा विविहा ।।४२।।
(त्वयि मुक्ते पोत इव जीवैर्भवार्णवे प्राप्ताः।
अनुवेलमापदामुखपतितैर्विडम्बना विविधाः ।।)

(जिस प्रकार सरिता के भीतर पड़े हुए जीव जहाज के अभाव में डूब जाते हैं, दुष्ट जलचर प्राणियों के द्वारा मृत्यु के मुख में समा जाने आदि की विविध विपत्तियां प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हे नाथ !) जिन जीवों ने नौका-तुल्य आपका त्याग किया है वे आपत्तियों में फँसे हुए जीव संसार-सागर में विविध विडम्बनाओं को बार-बार प्राप्त करते हैं (४२)

वुच्छं अपत्थिआगय - मच्छभवन्तोमुहुत्तवसिएण।
छावट्ठी अयराइं, निरंतरं अप्पइट्ठाणे ।।४३।।
(उषितमप्रार्थितागममत्स्यभवान्तर्मुहूर्त्तमुषितेन।
षट्षष्टिः अतराणि (सागरोपमानि) निरन्तरमप्रतिष्ठाने ।।)

(हे देव ! अन्य भवों की तो क्या बात कहूँ) अचानक आये हुए मत्स्य के भव में अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर मैं (सातवी नरक के) अप्रतिष्ठान नरकावास में छासठ सागरोपम तक अविच्छिन्न रूप से रहा। (४३)

सीउण्हवासधारा - निवायदुक्खं सुतिक्खमणुभूअं।
तिरिअत्तणम्मि नाणा - वरणसमुच्छाइएणावि ।।४४।।
(शीतोष्णवर्षधारानिपातदुःखं सुतीक्ष्णमनुभूतम्।
तिर्यक्त्वे ज्ञानावरणसमुच्छादितेनापि ।।)

ज्ञानावरण कर्म से अत्यन्त आच्छादित होकर भी मैंने तिर्यंच के भव में शीत, ताप एवं वर्षा की धारा गिरने का अत्यन्त तीव्र दुःख अनुभव किया। (यह आश्चर्य है) (४४)

अंतो निक्खंतेहि, पत्तेहिं पिअकलत्तपुत्तेहिं ।
सुन्ना मणुस्सभवणाडएसु निज्झाइआ अंका ।।४५।।
(अन्तर्निष्क्रान्तैः प्राप्तैः (पात्रैः) प्रियकलत्रपुत्रैः ।
शून्या मनुष्यभवनाटकेषु निर्ध्याता अंकाः ।।)

(हे नाथ) मनुष्य भव रूपी नाटकों में मुझे प्राप्त प्रिय पत्नी एवं पुत्र वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु के मुख में समा जाने से मुझे शून्य दिखाई दिया। (४५)

दिट्ठा रिउरिद्धीओ, आणाउ कया महड्ढिअसुराणं ।
सहिआ य हीणदेवत्तणेसु दोगच्चसंतावा ।।४६।।
(दृष्टा रिपुऋद्धय आज्ञाः कृता महर्द्धिकसुराणाम् ।
सोढौ च हीनदेवत्वेषु दौर्गत्यसन्तापौ ।।)

तदुपरान्त (देवलोक में भी) मैंने शत्रुओं की सम्पत्ति देखी, महर्द्धिक सुरों के शासनों को सिर पर चढाया और (किल्बिषिक जैसे) नीच देव-भव में दरिद्रता एवं सन्ताप सहन किये। (४६)

सिंचंतेण भववणं, पल्लट्टा पल्लिआऽरहट्टु व्व ।
घडिसंठाणोसप्पिणिअवसप्पिणिपरिगया बहुसो ।।४७।।
(सिञ्चता भववनं परिवर्ताः प्रेरिता अरघट्ट इव ।
घटीसंस्थानोत्सर्पिण्यवसर्प्पिणीपरिगता बहुशः ।।)

(हे नाथ ! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एवं योग, कर्मबंध के इन पांच कारण रूपी जल से) भव-वन का सिंचन करने वाले मैंने अरघट्ट की तरह घटी-संस्थान रूपी उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी से युक्त अनेक पुद्गल परावर्त व्यतीत किये। (४७)

भमिओ कालमणंतं, भवम्मि भीओ न नाह ! दुक्खाणं ।
संपइ तुमम्मि दिट्ठे, जायं च भयं पलायं च ।।४८।।
(भ्रान्तः कालमनन्तं भवे भीतो न नाथ ! दुःखेभ्यः ।
सम्प्रति त्वयि दृष्टे जातं च भयं पलायितं च ।।)

हे नाथ ! मैं संसार में अनन्त काल तक भटकता रहा तो भी दुःखों से भयभीत नहीं हुआ; परन्तु अभी जब मैंने आपको देखा तब (क्रोध आदि से होने वाली विडंबना का बोध होने पर) भय उत्पन्न हुआ और (साथ ही

साथ शम आदि से दूर कर सकूँगा यह ज्ञान होने पर) वह पलायन भी कर गया। (४८)

जइवि कयत्थो जगगुरु! मज्झत्थो जइवि पत्थेमि।
दाविज्जसु अप्पाणं, पुणो वि कइया वि अम्हाणं ॥४९॥
(यद्यपि कृतार्थो जगद्गुरो! मध्यस्था यद्यपि तथापि प्रार्थये।
दर्शयेदात्मानं पुनरपि कदाचिदप्यस्माकम् ॥)

हे जगद्गुरु! यद्यपि आप कृतार्थ हैं तथा मध्यस्थ हैं तो भी मैं आपको प्रार्थना करता हूँ कि आप किसी समय अथवा किसी देश में भी भ्रमण कर हमें अपना दर्शन दें। (४९)

इअ झाणग्गिपलीविअकम्मिधण! बालबुद्धिणा वि मए।
भत्तीइ थुओ भवभयसमुद्दबोहित्थ! बोहिफलो ॥५०॥
(इति ध्यानाग्निप्रदीपितकर्मेन्धन! बालबुद्धिनाऽपि मया।
भक्त्या स्तुतो भवभयसमुद्रयानपात्र! बोधिफलः ॥)

ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने वाले और अत्यन्त दुस्तर भव-भय रूपी समुद्र को पार करने में यान के समान हे नाथ! मैंने बाल-बुद्धि से सम्यक्त्व फल-दायक आपकी इस प्रकार से भक्तिपूर्वक स्तुति की। (५०)

□—□

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित

अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं ।
वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूप-
महं स्तुतेर्गोचरमानयामि ।। १ ।।

अध्यात्मवेत्ताओं के लिए अगम्य, पंडितों के लिए अनिर्वचनीय और इन्द्रियों के ज्ञानियों के लिये परोक्ष परमात्म स्वरूप श्री वर्धमान स्वामी को मैं अपनी स्तुति का विषय बनाता हूं। (१)

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं ।
गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन् ।
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ।। २ ।।

हे भगवान् ! आपकी स्तुति करने में क्या योगी पुरुष भी असमर्थ नहीं हैं ? (असमर्थ होते हुए भी आपके गुणों के प्रति अनुराग से ही योगियों ने आपकी स्तुति की है उस प्रकार से) मेरे हृदय में भी आपके गुणों के प्रति दृढ़ अनुराग है, अतः मेरे समान मूर्ख व्यक्ति भी आपकी स्तुति करने पर भी अपराध का भागीदार नहीं होता। (२)

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था ।
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।।
तथापि यूथाधिपतेः पथिस्थः ।
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ।। ३ ।।

गम्भीर अर्थ युक्त श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरि की स्तुतियाँ कहाँ और अभ्यास रहित मेरी यह वक्तृत्व-कला कहाँ ? तो भी बड़े-बड़े हाथियों के

मार्ग पर चलने वाला हाथी का बच्चा स्खलित होने पर भी जिस प्रकार चिन्ता का कारण नहीं बनता, उसी प्रकार से यदि मैं भी स्खलित हो जाऊँ तो चिन्ता का कारण नहीं है। (३)

जिनेन्द्र ! यानेव विबाधसे स्म,
दुरन्तदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एक चित्रं त्वदसूययेव,
कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥४॥

हे जिनेन्द्र ! जिन दुरन्त दोषों का आपने विविध उपायों के द्वारा नाश किया है, आश्चर्य है कि उन्हीं दोषों को अन्य मतों के देवों ने मानो आपके प्रति ईर्षा से ही स्वीकार कर लिया है। (४)

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश !
न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयद्भ्यो,
नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥५॥

हे स्वामिन् ! आपने पदार्थों का जैसा है वैसा ही वर्णन किया है, अतः आपने अन्य मतावलम्बियों की तरह कोई कुशलता प्रदर्शित नहीं की। अश्व के सिंगों की तरह असंभव वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले अन्य मत के नूतन पण्डितों को हम नमस्कार करते हैं। (५)

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत्,
कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः,
स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

हे पुरुषोत्तम ! ध्यान रूपी उपकार के द्वारा तीनों लोकों को सदा कृतार्थ करने वाले आपको छोड़ कर अन्य मतावलम्बियों ने अपना माँस दान करके दयालु कहलाने वालों का शरण क्यों ग्रहण किया है ? यह तनिक भी समझ में नहीं आता। (यह कटाक्ष बुद्ध पर किया है।) (६)

स्वयं कुमार्गं लपिता नु नाम,
प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गगं तद्विदमादिशन्त-
मसूययान्धा अवमन्वते च ॥७॥

ईर्षा से अंधे बने मनुष्य स्वयं कुमार्ग में लीन होकर दूसरों को कुमार्ग की ओर ले जाते हैं और सुमार्ग पर चलने वाले, सुमार्ग के ज्ञाताओं तथा सुमार्ग के उपदेशकों का अपमान करते हैं, यह अत्यन्त खेद की बात है। (७)

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः,
पराजयो यत्तव शासनस्य।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो
विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥८॥

हे प्रभु! वस्तु के तनिक अंश को ग्रहण करने वाले अन्य दर्शनों के द्वारा आपके मत का पराभव करना एक छोटे से जुगनू के प्रकाश से सूर्य मण्डल का पराभव करने के समान है। (८)

शरण्य! पुण्ये तव शासनेऽपि,
संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये,
संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

हे शरणागत आश्रयदाता! जो मनुष्य आपके पवित्र शासन के प्रति शंका एवं विवाद करते हैं, वे सचमुच स्वादिष्ट, अनुकूल एवं हितकर भोजन के प्रति शंका और विवाद करते हैं। (९)

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशाद-
सर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च,
ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥१०॥

हे भगवन्! हिंसा आदि असत्य कर्मों के उपदेशक होने से, असर्वज्ञों द्वारा कथित होने से तथा निर्दय एवं दुर्बुद्धि मनुष्यों द्वारा ग्रहण किये हुए होने से आपसे अन्य मतों के आगम प्रामाणिक नहीं हैं। (१०)

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्ते-
र्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धे-
स्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥११॥

हे भगवन् ! हितकर उपदेशक होने से, सर्वज्ञ कथित होने से, मुमुक्षु एवं उत्तम साधु पुरुषों द्वारा अंगीकार किए होने से और पूर्वापर पदार्थों के सम्बन्ध में विरोध रहित होने से आपके आगम ही सत्पुरुषों के लिये प्रमाण हैं। (११)

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा,
तवांघ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः।
इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं,
परैः कथंकारमपाकरिष्यते ।।१२।।

हे जिनेश्वर ! अन्य वाद वाले आपके चरण कमलों में इन्द्र के नमस्कार की बात चाहे न मानें अथवा अपने इष्ट देवों में भी उनकी कल्पना करके चाहे आपकी समानता करें, परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन रूप आपके गुण का अपलाप वे किस प्रकार करेंगे ? (१२)

तद्दुःषमाकालखलायितं वा,
पचेलिमं कर्म भवानुकूलम्।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थ-
मयं जनो विप्रतिपद्यते वा ।।१३।।

हे भगवन् ! जो मनुष्य आपके शासन की उपेक्षा करते हैं अथवा उसमें विवाद करते हैं वे इस पांचवें आरे के कुप्रभाव से ही ऐसा करते हैं अथवा भव-परिभ्रमण के अनुकूल उनके अशुभ कर्मों का उदय समझना चाहिये। (१३)

परः सहस्राः शरदस्तपांसि,
युगान्तरं योगमुपासतां वा।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो,
न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ।।१४।।

हे भगवन् ! चाहे अन्य मतावलम्बी हजारों वर्षों तक तप करें अथवा युगान्तर तक योग का अभ्यास करें, तो भी उनकी मोक्ष की इच्छा होने पर भी आपके मार्ग का अवलम्बन लिये बिना उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। (१४)

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्व-
संभावनासंभवविप्रलम्भाः ।
परोपदेशाः परमाप्तक्लृप्त-
पथोपदेशे किमु संरभन्ते ॥१५॥

हे देवाधिदेव ! अनाप्तों की मन्द बुद्धि से रचित एवं विसंवाद से परिपूर्ण अन्य मतों के उपदेश, परम आप्त आपके द्वारा प्रतिपादित किये गये उपदेशों के समक्ष भला कैसे ठहर सकते हैं ? (१५)

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यै-
स्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभू—
दहो अधृष्या तव शासनश्रीः ॥१६॥

अन्य मतावलम्बियों के गुरुओं ने सरल भाव से जो कुछ भी अयोग्य कथन किया था उसका उनके शिष्यों ने विपरीत ढंग से प्रतिपादन किया। हे भगवन् ! उस प्रकार का विप्लव आपके शासन में नहीं हुआ। अहो ! आपके शासन की लक्ष्मी का किसी से भी पराभव नहीं हो सकता। (१६)

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं,
शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथं घटेत,
परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ॥१७॥

हे वीतराग ! देह आदि के अयोग से सदाशिवत्व एवं देह आदि के योग से उपदेश-कर्म ये दो परस्पर विरोधी धर्म अन्यों द्वारा कल्पित देवों मे किस प्रकार हो सकते हैं ? कदापि नहीं हो सकते। (१७)

प्रागेव देवान्तरसंश्रितानि,
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्यां करुणामपीश !
समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ॥१८॥

राग आदि दोषों ने प्रथम से ही अन्य देवों का आश्रय लिया है। हे अधीश ! समाधि एवं मध्यस्थता को जपने वाले आपने मोहजनित करुणा का भी आश्रय नहीं लिया। (१८)

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन-
र्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षय-
क्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ।।१६।।

हे भगवन् ! अन्य मत वाले देव चाहे जिस प्रकार से जगत् का प्रलय करें अथवा जगत् की उत्पत्ति करें, परन्तु भव-भ्रमण का नाश करने में समर्थ उपदेश देने में, आपकी तुलना में वे बिचारे रंक हैं। (१६)

वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च,
दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथै-
र्जिनेन्द्र ! मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ।।२०।।

हे जिनेन्द्र ! आपके अन्य गुणों को धारण करना तो दूर रहा, परन्तु अन्य देव पर्यंक आसन वाली ,अक्कड़ता रहित देह वाली और नासिका पर स्थिर दृष्टि वाली आपकी मुद्रा तक नहीं सीख पाए। (२०)

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो,
भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ।।२१।।

हे वीतराग ! जिसके सम्यक्पने के बल से आप जैसों के शुद्ध स्वरूप का हम यथार्थ दर्शन कर सके हैं, उस कुवासना रूपी बन्धन के नाशक आपके शासन को हमारा नमस्कार हो। (२१)

अपक्षपातेन परीक्षमाणा,
द्वयं द्वयस्याप्रतिमं प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथनं तवैत-
दस्थाननिर्बन्धरसं परेषाम् ।।२२।।

हे भगवन् ! जब हम निष्पक्ष बन कर परीक्षा करते हैं तब आपका यथार्थ रूप से वस्तु का प्रतिपादन और अन्य मतावलम्बियों का पदार्थों को विपरीत ढंग से कथन करने का आग्रह दोनों वस्तु अप्रतिम प्रतीत होती हैं। (२२)

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै-
र्विश्रृंखलैश्चापलमाचरद्भिः ।
अमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य-
त्वत्किङ्करः किं करवाणि देव ! ॥२३॥

हे देव ! अनादि अविद्या में रमे हुए, उच्छृंखल, चपल एवं अमूढ़ लक्ष्य से युक्त पुरुष भी इस तेरे सेवक के द्वारा उचित मार्ग पर नहीं लाये जा सकते तो अब मैं क्या करूँ ? (२३)

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः,
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशना भूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥२४॥

हे योगियों के नाथ ! स्वभाव से ही वैरी प्राणी भी शत्रुता छोड़ कर दूसरों के द्वारा अगम्य आपके जिस समवसरण का आश्रय लेते हैं, उस समवसरण (देशना) भूमि का मैं भी आश्रय ग्रहण करता हूँ । (२४)

मदेन मानेन मनोभवेन,
क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां,
वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥२५॥

हे प्रभु ! मद, मान, काम, क्रोध, लोभ एवं राग से अत्यन्त पराजित अन्य देवों का साम्राज्य - रोग (प्रभुता की व्यथा) सर्वथा व्यर्थ है। (२५)

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं,
परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित् ।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग !
न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

वादी लोग अपने गले में तीक्ष्ण कुल्हाड़ी का प्रहार करते हुए कुछ भी कहें, परन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानों का चित्त आपके प्रति केवल राग से ही अनुरक्त हो, ऐसी बात नहीं है । (२६)

सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य,
न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये,
मणौ च काचे च समानुबन्धाः ।।२७।।

हे नाथ ! जो परीक्षक मध्यस्थता धारण करके कांच और मणि में समान भाव रखते हैं वे भी, मत्सरी-मनुष्यों की मुद्रा का अतिक्रमण नहीं करते, यह सुनिश्चित है। (२७)

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणा–
मुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं,
न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ।।२८।।

मैं प्रतिपक्षी व्यक्तियों के समक्ष यह उदार घोषणा करता हूँ कि वीतराग भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई परम देव नहीं है और वस्तु का निरूपण करने के लिए अनेकान्तवाद के अतिरिक्त अन्य कोई नीति-मार्ग नहीं है। (२८)

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो,
न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु,
त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः ।।२९।।

हे वीर ! केवल श्रद्धा के कारण हमारा आपके प्रति पक्षपात नहीं है, और केवल द्वेष के कारण हमें अन्य देवों के प्रति शत्रुता नहीं है, किन्तु आप्तपन की यथार्थ रूप से परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है। (२९)

तमःस्पृशामप्रतिभासभानं,
भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदाता–
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः ।।३०।।

हे जगदीश ! अज्ञान रूपी अंधकार में भटकने वाले पुरुषों को जो वाणी आप अगोचर को बताती हैं, उस चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ एवं तर्क से पवित्र आपकी वाणी की हम पूजा करते हैं। (३०)

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवा-
नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥३१॥

हे भगवन् ! जिस किसी शास्त्र में, जिस किसी प्रकार से और जिस किसी नाम से राग-द्वेष रहित देव का वर्णन किया गया है वह आप एक ही हैं। अतः आपको हमारा नमस्कार है। (३१)

[उपसंहारकाव्यम्]

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो,
विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमधिया—
मयं तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥३२॥

चाहे मृदु बुद्धि वाले मनुष्य इस स्तोत्र को श्रद्धा से रचित समझें और स्वभाव से ही पर-निन्दा के व्यसनी वादी पुरुष चाहे इसे अन्य देवों की निन्दा के लिये रचित मानें, परन्तु हे जिनवर ! परीक्षा करने में समर्थ बुद्धि वाले एवं राग-द्वेष से रहित पुरुषों को तत्त्वों को प्रकट करने वाला यह स्तोत्र स्तुति स्वरूप एवं धर्म चिन्तन में कारण स्वरूप है। (३२)

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित

* अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका *

अनन्तविज्ञानमतीतदोष-
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं,
स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ।।१।।

अनन्त ज्ञानी, दोष रहित, अबाध्य सिद्धान्तों से युक्त, देवताओं द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओं में प्रधान एवं स्वयंभू श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने का मैं प्रयत्न करूंगा (१)

अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय,
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-
मेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ।।२।।

हे नाथ ! परीक्षा करने में स्वयं को पण्डित मानने वाला मैं आपके अन्य गुणों के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी आपके स्तवन के लिये आपके यथार्थवाद नामक गुण का अवगाहन करता हूँ । (२)

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी,
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि,
विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ।।३।।

हे नाथ ! यद्यपि आपके गुणों की ईर्ष्या करने वाले अन्य मनुष्य आपको स्वामी नहीं मानते, फिर भी वे सत्य न्याय मार्ग का नेत्रोन्मीलन करके विचार करें । (३)

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो,
भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्,
द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ।।४।।

पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य एवं विशेष रूप हैं। उनमें सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिये पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है। जो अकुशलवादी पररूप एवं मिथ्यारूप, सामान्य विशेष को पदार्थ से भिन्न रूप में बताते हैं वे न्याय-मार्ग से च्युत होते हैं। (४)

आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ।।५।।

दीपक से लगा कर आकाश तक समस्त पदार्थ नित्य अनित्य स्वभाव युक्त हैं, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसी वस्तु-स्थिति में भी आपके विरोधी, दीपक आदि को सर्वथा अनित्य एवं आकाश आदि को सर्वथा नित्य मानते हैं, जो प्रलाप स्वरूप है। (५)

कर्त्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।।५।।

हे नाथ ! जगत का कोई कर्त्ता है, वह एक है, वह सर्वव्यापी है, वह स्वतन्त्र है और वह नित्य है। ये दुराग्रहपूर्ण विडम्बनाएँ उन्हीं के लगी हुई हैं, जिनके आप अनुशासक नहीं हैं। (६)

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे,
वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ,
न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ।।७।।

धर्म एवं धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने से उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म एवं धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह अनुचित है; क्योंकि जिस प्रकार धर्म और धर्मी

का ज्ञान होता है, उस प्रकार से समवाय का ज्ञान नहीं होता। यदि कोई कहे कि "तंतुओं में यह पट है" इस प्रकार के प्रत्यय से धर्म-धर्मी में समवाय का ज्ञान होता है, तो हम कहते हैं कि यह प्रत्यय स्वयं समवाय में भी होता है; और ऐसा मानने पर एक समवाय में दूसरा, दूसरे में तीसरा, इस प्रकार अनन्त समवाय मानने से अनवस्था दोष लगेगा। यदि कोई कहे कि एक समवाय को मुख्य मान कर समवाय में निहित समवायत्व को गौण रूप में स्वीकार करेंगे, तो यह कल्पना मात्र है और यह मानने में लोक-विरोध भी है। (७)

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता,
चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः,
सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥८॥

सत् पदार्थों में भी सब में सत्ता नहीं होती। ज्ञान उपाधिजन्य एवं आत्मा से भिन्न है। मोक्ष ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप नहीं है। इस प्रकार की मान्यताओं का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र आपकी आज्ञा से बाहर रहने वाले लोगों के द्वारा रचित हैं, जो युक्तियुक्त नहीं हैं। (८)

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र,
कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्व-
मतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥९॥

यह निर्विवाद है कि जिस पदार्थ का गुण जिस स्थान पर दृष्टि-गोचर होता है, वह पदार्थ उसी स्थान पर रहता है, जैसे जहां घड़े के रूप आदि गुण रहते हैं वहां घड़ा भी रहता है; तो भी अतत्त्ववाद से उपहत कुवादी आत्म-तत्त्व को देह से बाहर, सर्व व्यापी कहते हैं। (९)

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डा-
पाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात् परमर्मभिन्दन्,
अहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥१०॥

यह एक आश्चर्य है कि स्वतः ही विवाद रूपी पिशाच के परवश बने तथा वितंडावाद करने की पण्डिताई से असम्बद्ध प्रलाप करने वाले

इस लोक में छल, जाति एवं निग्रह-स्थान का उपदेश देकर दूसरों के निर्दोष हेतुओं का खण्डन करने का उपदेश देने वाले गौतम मुनि को भी विरक्त एवं कारुणिक माना जाता है। (१०)

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा–
सब्रह्मचारिस्फुरितं परेषाम् ।।११।।

वेद-विहित हिंसा धर्म का कारण नहीं है। अन्य अर्थ के लिए बताया गया उत्सर्ग अन्य अर्थ के लिए अपवाद नहीं बन सकता। फिर भी अन्य लोगों का उस प्रकार मानना, अपने पुत्र का वध करके राजा बनने की इच्छा के समान है। (११)

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः,
प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि,
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ।।१२।।

ज्ञान स्वयं को और अन्य पदार्थों को भी जान सकता है, अन्यथा किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता; फिर भी अन्य वादियों के भय से अन्य मतावलम्बियों ने ज्ञान को अनात्म-निष्ठ-स्वसंवेदन रहित स्वीकार किया है। (१२)

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धि–
रथासती हन्त कुतः प्रपंचः।
मायेव चेदर्थसहा च तत्किं,
माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ।।१३।।

यदि माया सत् रूप है तो ब्रह्म एवं माया दोनों पदार्थों की सिद्धि होती है—अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् है तो तीन लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि माया है और अर्थ क्रिया भी करती है, तो एक ही स्त्री माता है और वन्ध्या (बाँझ) भी है, क्या आपके विरोधियों का कथन इस प्रकार का सिद्ध नहीं होता? (१३)

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
वतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥

जिस प्रकार समस्त पदार्थ अनेक होते हुए भी एक हैं, उसी प्रकार से उन पदार्थों को बताने वाले शब्द भी द्वयात्मक-एक एवं अनेक स्वरूप हैं। आपके सिद्धान्त को नहीं मानने वाले और वाच्य एवं वाचक सम्बन्धी उससे विपरीत कल्पना करने वाले प्रतिवादी बुद्धि में प्रमाद भाव धारण करने वाले हैं। (१४)

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः,
शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति,
कियज्जडैर्न ग्रथितं निरोधि ॥१५॥

चेतना स्वयं पदार्थों को नहीं जानती। बुद्धि जड़ स्वरूप है। शब्द से आकाश, गंध से पृथ्वी, रस से जल, रूप से अग्नि और स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है तथा बंध अथवा मोक्ष पुरुष को नहीं होता, ऐसी कितनी विपरीत कल्पना जड़ मनुष्यों ने नहीं की ? (१५)

न तुल्यकालः फलहेतुभावो,
हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्,
विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥

कार्य एवं कारण दोनों साथ नहीं रह सकते। कारण का नाश होने पर भी फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् को यदि विज्ञान स्वरूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार बुद्ध का इन्द्रजाल भी विलीन हो जाता है। (१६)

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः,
स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-
महो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥१७॥

शून्यवादी प्रमाण के बिना अन्यवादियों की तरह अपना मत सिद्ध नहीं कर सकता। यदि वह किसी प्रमाण को माने तो स्वयं द्वारा मान्य

शून्यता का सिद्धान्त, कृतान्त की तरह कुपित होता है। हे भगवन् ! आपके मत के ईर्षालु मनुष्यों ने कुमति ज्ञान रूपी नेत्रों से जो कुछ जाना है, वह मिथ्या होने के कारण उपहासास्पद है। (१७)

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो महासाहसिकः परस्ते ।।१८।।

आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी, बौद्ध क्षणिकवाद को स्वीकार करके अकृतकर्म-भोगदोष, कृतप्रणाश-दोष, भव-भंग-दोष, मुक्ति-भंग-दोष और स्मरण-भंग-दोष आदि अनुभव सिद्ध दोषों की उपेक्षा करके अपना मत स्थापित करने के लिये अत्यन्त साहस करते हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। (१८)

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
नाभेदभेदानुभयैर्घटेते ।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोत-
न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ।।१९।।

वासना एवं क्षण सन्तति, परस्पर भिन्न, अभिन्न एवं अनुभव, इन तीन भेदों में से किसी भी भेद से सिद्ध नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उड़ा पक्षी समुद्र का किनारा नहीं दिखाई पड़ने से पुनः जहाज पर ही आ बैठता है, उसी प्रकार से उपायान्तर नहीं होने से बौद्ध लोग अन्त में आपके ही सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। (१९)

विनानुमानेन पराभिसन्धि-
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा,
क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ।।२०।।

बिना अनुमान के अन्य व्यक्तियों का अभिप्राय नहीं समझ सकने वाले चार्वाक लोगों को बोलने की चेष्टा करना उचित नहीं है। कहां चेष्टा और कहां प्रत्यक्ष ? इन दोनों के मध्य अत्यन्त अन्तर है। इसे नहीं समझने वालों का कैसा प्रमाद है ? (२०)

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि-
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ।।२१।।

हे नाथ ! प्रत्येक क्षण उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थों को देख कर भी हे जिन ! जो लोग आपकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं वे वायु अथवा पिशाच से ग्रस्त हैं। (२१)

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-
मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-
कुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः ।।२२।।

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म हैं—यह नहीं मानने से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार आपके प्रमाण-भूत वाक्य कुवादी रूपी मृगों में भय (त्रास) उत्पन्न करने के लिये सिंह की गर्जना के समान हैं। (२२)

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग-
मदीदशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ।।२३।।

यदि वस्तु का सामान्यतया कथन किया जाये तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है। यदि वस्तु की विस्तारपूर्वक प्ररूपणा की जाये तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है। इस प्रकार सकलादेश और विकलादेश के भेद से पंडित लोग समझ सकें वैसे सात भंगों की आपने प्ररूपणा की है। (२३)

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,
नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता,
जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ।।२४।।

प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व, नास्तित्व एवं अवक्तव्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन अपेक्षा भेद से विरुद्ध नहीं है। विरोध से भयभीत बने एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धान्त को नहीं समझने के कारण ही न्याय-मार्ग से पतित होते हैं। (२४)

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं,
वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व–
सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

हे विद्वान्-शिरोमणि ! प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से नित्य है; किसी अपेक्षा से सामान्य है, किसी अपेक्षा से विशेष है, किसी अपेक्षा से वाच्य है, किसी अपेक्षा से अवाच्य है; किसी अपेक्षा से सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है । अनेकान्त-तत्व रूपी अमृत के पान से निकली हुई यह उद्गारों की परम्परा है । (२५)

य एव दोषाः किल नित्यवादे,
विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,
जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥२६॥

वस्तु को सर्वथा नित्य मानने में जो दोष आते हैं, वे ही दोष सर्वथा अनित्य मानने में भी आते हैं । जिस प्रकार एक कांटा (शूल) दूसरे कांटे का नाश करता है, उसी प्रकार से नित्यवादियों और अनित्यवादियों के पारस्परिक दूषण बता कर एक दूसरे का निराकरण करने पर भी हे जिन ! आपका अधृष्य शासन बिना परिश्रम के विजय प्राप्त करता है । (२६)

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं,
परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवाद में सुख-दुःख का उपभोग घट नहीं सकता और पुण्य-पाप तथा बंध-मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं घट सकती । सचमुच, एकान्तवादी लोगों ने दुर्नयवाद में आसक्ति रूपी खड्ग से सम्पूर्ण विश्व का नाश किया है । (२७)

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण–
पथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥२८॥

पदार्थ सर्वदा सत् तथा कथंचित् सत् है। इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान क्रमशः दुर्नय, नय एवं प्रमाण मार्ग के द्वारा होता है; किन्तु हे भगवन् ! आप यथार्थदर्शी ने नय मार्ग एवं प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नयवाद का निराकरण किया है। (२८)

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य-
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२९॥

जो मनुष्य जीवों को अनन्त न मान कर परिमित संख्या में मानते हैं उनके मतानुसार मुक्त जीवों को पुनः संसार में जन्म धारण करना चाहिये अथवा यह संसार एक दिन जीव-विहीन हो जाना चाहिये; परन्तु हे भगवन् ! आपने छः काय के जीवों को उस प्रकार अनन्त संख्या युक्त प्ररूपित किया है जिससे आपके मत में उपर्युक्त दोष नहीं आ सकता। (२९)

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

अन्य वादी जिस प्रकार परस्पर पक्ष एवं प्रतिपक्ष भाव रखने से एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते हैं, उस प्रकार से समस्त नयों को समान मानने वाले आपके शास्त्रों में किसी का भी पक्षपात नहीं है। (३०)

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तु-
माशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं,
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥३१॥

हे पूज्य शिरोमणि ! आपकी वाणी के वैभव का पूर्णरूपेण विवेचन करने की आशा रखना हम जैसों के लिए जंघा-बल से समुद्र लांघने की आशा करने के समान है अथवा चन्द्रमा की चांदनी को पान करने की तृष्णा के समान है। (३१)

(उपसंहारकाव्यम्)

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥३२॥

इन्द्रजालियों की तरह अधम पर-दार्शनिकों ने इस जगत को तत्त्व और अतत्त्व के व्यतिकर मिश्रण से विकराल गहन अन्धकार में डाल दिया है। आप ही इस जगत् का उद्धार करने में समर्थ हैं, क्योंकि आपके वचन विसंवाद-रहित हैं। हे जगत रक्षक ! बुद्धिमान मनुष्य इस कारण आपकी ही सेवा करते हैं। (३२)
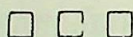
कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यचरणकजचञ्चरीक-

परमार्हत्-श्रीकुमारपालम् भूपाल रचितम्

❀ साधारणजिनस्तवनम् ❀

नम्राखिलाखण्डलमौलिरत्न-
रश्मिच्छटापल्लवितांह्रि पीठ !
विध्वस्तविश्वव्यसनप्रबन्ध !
त्रिलोकबन्धो: जयताज्जिनेन्द्र ! ।।१।।

समस्त विनीत इन्द्रों के मुकुटों पर विद्यमान रत्नों की किरणों से कान्तिमय बने पाद-पीठ वाले और जिन्होंने जगत् के दु:ख समूह को नष्ट किया है ऐसे तीन लोकों के बन्धु हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो । (१)

मूढोऽस्म्यहं विज्ञपयामि यत्त्वा-
मुपेतरागं भगवन् ! कृतार्थम् ।
न हि प्रभूणामुचितस्वरूप-
निरूपणाय क्षमतेऽर्थिवर्ग: ।।२।।

हे भगवन् ! मैं बुद्धिहीन, राग-रहित एवं कृतार्थ आपको विज्ञप्ति करता हूँ कि सचमुच स्वामी के उचित स्वरूप का निरूपण करने में सेवक समर्थ नहीं होता है । (२)

मुक्ति गतोऽपीश ! विशुद्धचित्ते,
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् ।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेंऽशु-
सङ्गान्न किं द्योतयते गृहान्त: ? ।।३।।

हे स्वामी ! आप मोक्ष में हैं फिर भी मेरे निर्मल चित्त में आपके गुणों का आरोप करने से आप साक्षात् मेरे समक्ष हैं । अत्यन्त दूरस्थ सूर्य दर्पण में किरणों के संग से क्या घर के भीतर प्रकाश नहीं फैलाता ? (३)

तव स्तवेन क्षयमङ्गभाजां,
भजन्ति जन्मार्जितपातकानि ।
कियच्चिरं चण्डरुचेर्मरीचि-
स्तोमे तमांसि स्थितिमुद्वहन्ति ? ।।४।।

आपके स्तवन से प्राणियों के अनेक भवों के संचित पापों का क्षय होता है। सूर्य की किरणों के समक्ष अंधकार भला कब तक ठहर सकता है ? (४)

शरण्य ! कारुण्यपरः परेषां,
निहंसि मोहज्वरमाश्रितानाम् ।
मम त्वदाज्ञां वहतोऽपि मूर्ध्ना,
शान्ति न यात्येष कुतोऽपि हेतोः ? ।।५।।

हे शरण ग्रहण करने योग्य प्रभु ! आप दयालु आपके शरणागतों का मोह-ज्वर नष्ट करते हैं, परन्तु आपकी आज्ञा सिरोधार्य करने वाले मेरे इस मोह-ज्वर का, पता नहीं क्यों शमन नहीं होता ? (५)

भवाटवीलङ्घनसार्थवाहं,
त्वामाश्रितो मुक्तिमहं यियासुः ।
कषायचोरैर्जिन ! लुप्यमानं,
रत्नत्रयं मे तदुपेक्षसे किम् ? ।।६।।

मुक्ति-अभिलाषा में भव-वन को पार करने में सार्थवाह तुल्य आपके आश्रय में हूँ; तो भी हे जिनेश्वर ! कषाय रूपी चोरों के द्वारा चुराये जाते मेरे अमूल्य त्रिरत्नों की आप उपेक्षा क्यों करते हैं ? (६)

लब्धोऽसि स त्वं मयका महात्मा,
भवाम्बुधौ बम्भ्रमता कथञ्चित् ।
आः पापपिण्डेन नतो न भक्त्या,
न पूजितो नाथ ! न तु स्तुतोऽसि ।।७।।

भव-सागर में भटकते हुए मुझे किसी प्रकार से अत्यन्त ही कठिनाई से आप महात्मा मिल पाये हैं, परन्तु मुझे खेद तो इस बात का है कि मुझ पाप-पिण्ड ने भक्ति पूर्वक हे नाथ ! न तो आपको नमन किया, न आपकी पूजा-अर्चना की और न स्तुति की। (७)

संसारचक्रे भ्रमयन् कुबोध-
दण्डेन मां कर्ममहाकुलालः ।
करोति दुःखप्रचयस्थ भाण्डं,
ततः प्रभो ! रक्ष जगच्छरण्य ! ॥८॥

इस संसार चक्र में कर्म रूपी महान् कुम्भकार कुबोध रूपी डण्डे से घुमाता हुआ मुझे दुःख के समूह का भाजन बनाता है। अतः हे प्रभु ! हे जगत् के शरणभूत ! आप मेरी रक्षा करें। (८)

कदा त्वदाज्ञाकरणाप्ततत्त्व-
स्त्यक्त्वा ममत्वादि भवैककन्दम् ।
आत्मैकसारो निरपेक्षवृत्ति-
र्मोक्षेऽप्यनिच्छो भवितास्मि नाथ ! ॥९॥

हे नाथ ! आपकी आज्ञा का पालन करने से मुझे तत्त्व प्राप्त होने के कारण मैं इस संसार का मूल कारण स्वरूप ममता आदि का त्याग करके, आत्मा को ही तत्त्व मान कर संसार में निरपेक्ष व्यवहार युक्त तथा मोक्ष की भी इच्छा से रहित कब बनूंगा ? (९)

तव त्रियामापतिकान्तिकान्तै-
र्गुणैर्नियम्यात्ममनःप्लवङ्गम् ।
कदा त्वदाज्ञाऽमृतपानलोलः,
स्वामिन् ! परब्रह्मरतिं करिष्ये ? ॥१०॥

हे स्वामी ! आपके चन्द्रमा की चाँदनी (कान्ति) के समान मनोहर गुण रूपी डोरी के द्वारा मेरे मन रूपी बन्दर को बाँध कर आपकी आज्ञा रूपी अमृत के पान में लीन बना मैं कब आत्म-स्वरूप में आनन्द-मग्न होऊँगा ? (१०)

एतावतीं भूमिमहं त्वदंह्रि-
पद्मप्रसादाद् गतवानधीशम् !
हठेन पापास्तदपि स्मराद्या,
ही मामकार्येषु नियोजयन्ति ॥११॥

हे स्वामी ! आपके चरण-कमलों की कृपा से मैंने इतना उच्च स्थान प्राप्त किया है, फिर भी खेद की बात यह है कि बलात्कार पूर्वक काम-

विकार आदि पाप कर्म मुझे अकरणीय प्रवृत्तियों में अत्यन्त लगा देते हैं। (११)

भद्रं न किं त्वय्यपि नाथनाथे,
सम्भाव्यते मे यदपि स्मराद्याः ।
अपाक्रियन्ते शुभभावनाभिः,
पृष्ठिं न मुञ्चन्ति तथापि पापाः ॥१२॥

आपके तुल्य स्वामी के होने से मेरे लिए समस्त कल्याण संभव हैं। यद्यपि शुभ भावनाओं के द्वारा काम-विकार आदि शत्रु दूर हटाये जाते हैं, फिर भी वे पापी मेरा आँचल नहीं छोड़ते। (१२)

भवाम्बुराशौ भ्रमतः कदापि,
मन्ये न मे लोचनगोचरोऽभूः ।
निस्सीमसीमन्तकनारकादि-
दुःखातिथित्वं कथमन्यथेश ! ॥१३॥

हे ईश ! मैं यह मानता हूँ कि भव-सागर में परिभ्रमण करते मुझे आपके दर्शन कदापि नहीं हुए, अन्यथा असीम दुःखों की खान स्वरूप सीमंतक नारकीय दुःखों आदि का भोक्ता मैं कैसे होता ? (१३)

चक्रासिचापाङ्कुशवज्रमुख्यैः,
सल्लक्षणैर्लक्षितमंह्रियुग्मम् ।
नाथ ! त्वदीयं शरणं गतोऽस्मि,
दुर्वारमोहादिविपक्षभीतः ॥१४॥

हे नाथ ! दुःख से निवारण किए जा सकें ऐसे मोह आदि शत्रुओं से भयभीत बना मैं चक्र, तलवार, धनुष, वज्र आदि प्रमुख शुभ लक्षणों से अलंकृत आपके चरण-युगलों की शरण में आया हुआ हूँ। (१४)

अगण्यकारुण्य ! शरण्य ! पुण्य !
सर्वज्ञ ! निष्कण्टक ! विश्वनाथ !
दीनं हताशं शरणागतं च,
मां रक्ष रक्ष स्मरभिल्लभल्लैः ॥१५॥

हे अगणित करुणानिधान ! हे शरण लेने योग्य ! हे पवित्र ! हे सर्वज्ञ ! हे निष्कण्टक ! हे जगन्नाथ ! मुझ दीन, हताश, एवं शरणागत की काम-देव रूपी भील के भालों से रक्षा करो, रक्षा करो। (१५)

त्वया विना दुष्कृतचक्रवालं,
नान्यः क्षयं नेतुमलं ममेश !
को वा विपक्षप्रतिचक्रमूलं,
चक्रं विना छेत्तुमलं भविष्णुः ? ॥१६॥

हे स्वामी ! आपके अतिरिक्त मेरे पाप-समूह को क्षय करने में अन्य कौन समर्थ है ? अथवा शत्रु-सेना का मूलोच्छेदन करने के लिए चक्र के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? (१६)

यद् देवदेवोऽसि महेश्वरोऽसि,
बुद्धोऽसि विश्वत्रयनायकोऽसि ।
तेनान्तरङ्गारिगणाभिभूत-
स्तवाग्रतो रोदिमि हा सखेदम् ॥१७॥

जिन कारणों के लिए आप देवाधिदेव हैं, महेश्वर हैं, बुद्ध हैं, तीनों लोकों के नायक हैं और मैं अन्तरंग शत्रुओं से पराजित हो चुका हूँ, इस कारण आपके समक्ष मैं खेद सहित रुदन करता हूँ। (१७)

स्वामिन्नधर्म्मव्यसनानि हित्वा,
मनः समाधौ निदधामि यावत् ।
तावत्क्रुधेवान्तरवैरिणो मा-
मनल्पमोहान्ध्यवशं नयन्ति ॥१८॥

हे स्वामी ! जब तक अधर्मों एवं व्यसनों का परित्याग करके मैं अपने मन को समाधि में स्थापित करता हूँ उतने में तो क्रोध से ही मानो मेरे अन्तरंग शत्रु मुझे मोहान्ध कर देते हैं। (१८)

त्वदागमाद्विद्धि सदैव देव !
मोहादयो यन्मम वैरिणोऽमी ।
तथापि मूढस्य पराप्तबुद्ध्या,
तत्सन्निधौ ही न किमप्यकृत्यम् ॥१९॥

हे देव ! आपके आगमों के द्वारा मैं सदा मोह आदि को अपना शत्रु समझता हूँ, परन्तु मुझ मूर्ख को शत्रु में उत्कृष्ट विश्वास हुआ है, जिससे मोह आदि के समीप रह कर मुझ से कौनसा कुकृत्य नहीं होगा ? अर्थात् मोह आदि के कारण पुद्गल में विश्वास अथवा पुद्गल में अपनत्व की

भावना से मूढ़ बने मेरे लिए कोई भी कार्य अकरणीय नहीं रहा, यह खेद की बात है। (१९)

म्लेच्छैर्नृशंसैरतिराक्षसैश्च,
विडम्बितोऽमीभिरनेकशोऽहम् ।
प्राप्तस्त्विदानीं भुवनैकवीर !
त्रायस्व मां यत्तव पादलीनम् ।।२०।।

म्लेच्छ, निर्दयी तथा राक्षसों को भी मात करने वाले इन काम-क्रोध आदि के द्वारा मैं अनेक बार दुःख प्राप्त कर चुका हूँ। हे लोक में वीर परमात्मा ! अब मैंने आपको प्राप्त किया है। मैं आपके चरणों में लीन हूँ। आप मेरी रक्षा करें। (२०)

हित्वा स्वदेहेऽपि ममत्वबुद्धि,
श्रद्धापवित्रीकृतसद्विवेकः ।
मुक्तान्यसङ्गः समशत्रुमित्रः,
स्वामिन् ! कदा संयममातनिष्ये ।।२१।।

हे स्वामी ! अपने देह के प्रति भी ममत्व का त्याग करके, श्रद्धा सहित पवित्र अन्तःकरण युक्त होकर, हृदय में शुद्ध विवेक–हेय आदि का विभाग करके, अन्य सभी की संगति का परित्याग करके तथा शत्रु एवं मित्र को समान समझ कर मैं कब संयम ग्रहण कर सकूँगा ? (२१)

त्वमेव देवो मम वीतराग !
धर्मो भवद्दर्शितधर्म एव ।
इति स्वरूपं परिभाव्य तस्मान्,
नोपेक्षणीयो भवति स्वभृत्यः ।।२२।।

हे वीतराग ! आप ही मेरे देव हैं और आप द्वारा प्ररूपित धर्म ही मेरा धर्म है। इस प्रकार मेरे स्वरूप का विचार करके आपको मुझ सेवक की ऐसी उपेक्षा करना उचित नहीं है। (२२)

जिता जिताशेषसुरासुराद्याः,
कामादयः काममी त्वयेश !
त्वां प्रत्यशक्तास्तव सेवकं तु,
निघ्नन्ति ही मां परुषं रुषैव ।।२३।।

हे ईश ! ये काम आदि, समस्त देव-दानवों के विजेता हैं। इन्हें आपने सर्वथा जीत लिया है, परन्तु आपको जीतने में असमर्थ वे काम आदि मानों क्रोध से ही मुझ सेवक का निर्दयता से संहार करते हैं, यह खेद की बात है। (२३)

सामर्थ्यमेतद् भवतोऽस्ति सिद्धि,
सत्त्वानशेषानपि नेतुमीश !
क्रियाविहीनं भवदंह्रिलीनं
दीनं न किं रक्षसि मां शरण्य ।।२४।।

हे ईश ! समस्त प्राणियों को मुक्ति में ले जाने का आपका सामर्थ्य है, तो फिर मुझ क्रियाविहीन, दीन एवं आपके चरणों में लीन को आप क्यों नहीं बचाते ? (२४)

त्वत्पादपद्मद्वितयं जिनेन्द्र !
स्फुरत्यजस्रं हृदि यस्य पुंसः ।
विश्वजयी श्रीरपि नूनमेति,
तत्राश्रयार्थं सहचारिणीव ।।२५।।

हे जिनेन्द्र ! जिस पुरुष के अन्तःकरण में आपके चरण-कमल-युगल सदा स्फुरायमान हैं, वहाँ निश्चय ही तीनों लोकों की लक्ष्मी सहचारिणी की तरह आश्रय ग्रहण करने के लिए आती है। (२५)

अहं प्रभो ! निर्गुणचक्रवर्ती,
क्रूरो दुरात्मा हतकः सपाप्मा ।
ही दुःखराशौ भववारिराशौ,
यस्मान्निमग्नोऽस्मि भवद्विमुक्तः ।।२६।।

हे प्रभो ! मैं निर्गुणियों में चक्रवर्ती हूँ, क्रूर हूँ, दुरात्मा हूँ, हिंसक हूँ और पापी हूँ; जिस कारण से मैं आपसे अलग होकर दुःख की खान तुल्य भव-सागर में डूब गया हूँ, यह खेद की बात है। (२६)

स्वामिन्निमग्नोऽस्मि सुधासमुद्रे,
यन्नेत्रपात्रातिथिरद्य मेऽभूः ।
चिन्तामणौ स्फूर्जति पाणिपद्मे,
पुंसामसाध्यो न हि कश्चिदर्थः ।।२७।।

हे स्वामी ! जिस कारण से आज आपके दर्शन हुए, उस कारण से आज मैं अमृत के सागर में निमग्न हो गया हूँ। जिसके कर-कमल में चिन्तामणि रत्न स्फुरायमान हुआ है, ऐसे पुरुष के लिये कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है। (२७)

त्वमेव संसारमहाम्बुराशौ,
निमज्जतो मे जिन ! यानपात्रम् ।
त्वमेव मे श्रेष्ठसुखैकधाम,
विमुक्तिरामाघटनाभिरामः ॥२८॥

हे जिनेश्वर ! संसार रूपी महासागर में डूबते हुए मेरे लिए आप ही जहाज तुल्य हैं और आप ही उत्तमोत्तम सुख के अद्वितीय धाम हैं तथा मुक्ति रूपी नारी का संयोग कराने में आप ही अभिराम हैं, मनोहर हैं। (२८)

चिन्तामणिस्तस्य जिनेश ! पाणौ,
कल्पद्रुमस्तस्य गृहाङ्गणस्थः ।
नमस्कृतो येन सदाऽपि भक्त्या,
स्तोत्रैः स्तुतो दामभिरर्चितोऽसि ॥२९॥

हे जिनेश्वर ! जिसने भक्ति पूर्वक नित्य आपको नमस्कार किया है, स्तवनों के द्वारा आपकी स्तुति की है और पुष्प की मालाओं के द्वारा आपकी पूजा की है; उसके हाथ में चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है और उसके प्राङ्गण में कल्पवृक्ष फला है। (२९)

निमील्य नेत्रे मनसः स्थिरत्वं,
विधाय यावज्जिन ! चिन्तयामि ।
त्वमेव तावन्न परोऽस्ति देवो,
निःशेषकर्मक्षयहेतुरत्र ॥३०॥

हे भगवन् ! जब मैं अपने नेत्र बंद करके एवं मन को स्थिर करके चिन्तन करता हूँ तब मुझे स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि इस जगत् में सम्पूर्ण कर्म-क्षय के कारणभूत आप ही हैं, अन्य कोई नहीं है। (३०)

भक्त्या स्तुता अपि परे परया परेभ्यो,
मुक्तिं जिनेन्द्र ! ददते न कथञ्चनापि ।
सिक्ताः सुधारसघटैरपि निम्बवृक्षा,
विश्राणयन्ति न हि चूतफलं कदाचित् ॥३१॥

हे जिनेन्द्र ! उत्कृष्ट भक्ति से स्तुति किये गये अन्य देव अपनी स्तुति करने वाले अन्यों को किसी भी प्रकार से मुक्ति प्रदान नहीं करते यह उचित ही है, क्योंकि अमृत के घड़ों से भी सिंचित नीम के वृक्षों से कदापि आम के फल प्राप्त नहीं होते । (३१)

भवजलनिधिमध्यान्नाथ ! निस्तार्य कार्यः,
शिवनगरकुटुम्बी निर्गुणोऽपि त्वयाऽहम् ।
न हि गुणमगुणं वा संश्रितानां महान्तो,
निरुपमकरुणार्द्राः सर्वथा चिन्तयन्ति ।।३२।।

हे नाथ ! मुझ गुणहीन को भी आपको संसार-सागर के मध्य से उद्धार करके मोक्ष-नगर का कुटम्बी करना ही चाहिए; क्योंकि अद्वितीय दया से आर्द्र महापुरुष अपनी शरण में आये हुओं के गुण और अवगुणों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं । (३२)

प्राप्तस्त्वं बहुभिः शुभैस्त्रिजगतश्चूडामणिर्देवता,
निर्वाणप्रतिभूरसावपि गुरुः श्री हेमचन्द्रप्रभुः ।
तन्नातः परमस्ति वस्तु किमपि स्वामिन् ! यदभ्यर्थये,
किन्तु त्वद्वचनादरः प्रतिभवं स्ताद्वर्धमानो मम ।।३३।।

अनेक पुण्यों से त्रिलोक के मुकुटमणि तुल्य एवं मोक्ष के साक्षी आप देव एवं ये श्री हेमचन्द्र प्रभु गुरु प्राप्त हुए हैं । अतः हे स्वामी ! इनसे उत्कृष्ट कोई अन्य वस्तु नहीं है कि जिसकी मैं आपसे याचना करूं; किन्तु प्रत्येक भव में आपके वचनों के प्रति मेरे मानस में सम्मान की वृद्धि होती रहे ऐसी मैं अभ्यर्थना करता हूँ । (३३)

—०—

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महोपाध्याय

श्रीयशोविजय-रचिता

❀ परमज्योतिः पञ्चविंशतिका ❀

ऐन्द्र तत्परमं ज्योतिरुपाधिरहितं स्तुमः ।
उदिते स्युर्यदंशेऽपि, सन्निधौ निधयो नव ।।१।।

कर्म-उपाधि-रहित आत्मा के सम्बन्ध में हम उस परम ज्योति की स्तुति करते हैं जिसके अंश मात्र के उदय से नौ निधियाँ प्रकट होती हैं। (१)

प्रभा चन्द्राऽर्कभादीनां, मितक्षेत्रप्रकाशिका ।
आत्मानस्तु परं ज्योति –र्लोकालोकप्रकाशम् ।।२।।

चांद, सूर्य एवं नक्षत्रों आदि की प्रभा सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करने वाली है, जबकि आत्मा की परम ज्योति लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाली है। (२)

निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्पं निरामयम् ।
आत्मनः परमं ज्योति, –र्निरुपाधि-निरंजनम् ।।३।।

आत्मा की परम ज्योति आलम्बन रहित, आकार रहित, विकल्प रहित, रोग रहित, उपाधि रहित एवं मल रहित है। (३)

दीपादिपुद्गलापेक्षं, समलं ज्योतिरक्षजम् ।
निर्मलं केवलं ज्योति –र्निरपेक्षमतीन्द्रियम् ।।४।।

इन्द्रियों से उत्पन्न ज्योति दीपक आदि पुद्गलों की अपेक्षा रखने वाली और मल युक्त है। अतीन्द्रिय केवल ज्योति निरपेक्ष एवं निर्मल है। (४)

कर्मनोकर्मभावेषु, जागरूकेष्वपि प्रभुः।
तमसानावृतः साक्षी, स्फुरति ज्योतिषा स्वयम् ।।५।।

जागरूक कर्म तथा नोकर्म जनित भावों के सम्बन्ध में अज्ञान-अंधकार से अनावृत्त स्वयं साक्षी स्वरूप प्रभु आत्म-ज्योति के द्वारा स्फुरायमान होता है। (५)

परमज्योतिषः स्पर्शादपरं ज्योतिरेधते।
यथा सूर्यकरस्पर्शात्, सूर्यकान्तस्थितोऽनलः ।।६।।

सूर्य की किरणों के स्पर्श से सूर्यकान्तमणि में निहित अग्नि की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उसी प्रकार से परम ज्योति के स्पर्श से अपरम ज्योति की वृद्धि होती है। (६)

पश्यन्नपरमं ज्योतिर्विवेकाद्रेः पतत्यधः।
परमं ज्योतिरन्विच्छन्नाऽविवेके निमज्जति ।।७।।

अपरम ज्योति का दर्शक विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिरता है, परम ज्योति का अभिलाषी अविवेक में नहीं डूबता। (७)

तस्मै विश्वप्रकाशाय, परमज्योतिषे नमः।
केवलं नैव तमसः, प्रकाशादपि यत्परम् ।।८।।

विश्व का प्रकाश करने वाली उस परम ज्योति को नमस्कार है कि जो केवल अंधकार से ही परे नहीं है, किन्तु प्रकाश से भी परे है। (८)

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व –चारित्रसुखवीर्यभूः।
परमात्मप्रकाशो मे, सर्वोत्तमकलामयः ।।९।।

ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य की भूमि तुल्य मेरा परमात्म प्रकाश सर्वोत्तम कलामय है। (९)

यां विना निष्फलाः सर्वाः, कला गुणबलाधिकाः।
आत्मधामकलामेकां, तां वयं समुपास्महे ।।१०।।

गुण एवं बल से अधिक समस्त कलायें जिसके बिना निष्फल हैं, उस आत्म-ज्योति स्वरूप एक ही कला की हम उपासना करते हैं। (१०)

निधिभिर्नवभीरत्नै -श्चतुर्दशभिरप्यहो ।
न तेजश्चक्रिणां यत्स्यात्, तदात्माधीनमेवहि[1] ।।११।।

अहो ! नौ निधियाँ एवं चौदह रत्नों से भी चक्रवर्त्तियों को जिस तेज की प्राप्ति नहीं होती, वह तेज परम ज्योति के प्रकाश को प्राप्त हमारी आत्मा के अधीन है। (११)

दम्भपर्वतदम्भोलि, ज्ञानध्यानधनाः सदा ।
मुनयो वासवेभ्योऽपि, विशिष्टं धाम बिभ्रति ।।१२।।

दम्भ रूपी पर्वत को तोड़ने के लिये वज्र तुल्य, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन वाले मुनि इन्द्रों से भी अधिक तेज को धारण करते हैं। (१२)

श्रामण्ये वर्षपर्यायात्, प्राप्ते परमशुक्लताम् ।
सर्वार्थसिद्धदेवेभ्योऽप्यधिकं ज्योतिरुल्लसेत् ।।१३।।

एक वर्ष के श्रमण पर्याय के द्वारा परम शुक्लता को प्राप्त मुनिवरों को सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों से भी अधिक ज्योति उल्लसित होती है। (१३)

विस्तारिपरमज्योति, -र्द्योतिताभ्यन्तराशयाः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो, जायन्ते विगतस्पृहाः ।।१४।।

विस्तार युक्त परम ज्योति से प्रकाशित अन्तरात्मा वाले जीवन-मुक्त महात्मा समस्त प्रकार की स्पृहा से रहित होते हैं। (१४)

जाग्रत्यात्मनि ते नित्यं, बहिर्भाविषु शेरते ।
उदासते परद्रव्ये, लीयन्ते स्वगुणामृते ।।१५।।

वे आत्म-भाव के विषय में सदा जाग्रत रहते हैं, बाह्य भावों में निरन्तर सोये हुए रहते हैं, पर द्रव्यों के विषय में उदासीन रहते हैं और स्वगुण रूपी अमृत-पान के विषय में तल्लीन रहते हैं। (१५)

यथैवाभ्युदितः सूर्यः, पिदधाति महान्तरम् ।
चारित्रापरमज्योति, -र्द्योतितात्मा तथा मुनिः ।।१६।।

उदित भानु जिस प्रकार घोर अंधकार का नाश करता है, उसी

---

१. नः

प्रकार से चारित्र रूपी परम ज्योति से प्रकाशित आत्मा वाले मुनिगण अज्ञानान्धकार को नष्ट कर डालते हैं। (१६)

प्रच्छन्नं परमं ज्योति - रात्मनोऽज्ञानभस्मना।
क्षणादाविर्भवत्युग्र - ध्यानवातप्रचारतः ॥१७॥

आत्मा की परम ज्योति अज्ञान रूपी भस्म से आच्छादित है। उग्र ध्यान रूपी वायु के प्रचार से क्षण भर में उसका आविर्भाव होता है। (१७)

परकीय प्रवृत्तौ ये, मूकान्धबधिरोपमाः।
स्वगुणार्जन[1]-सज्जास्तैः, परमं ज्योतिराप्यते ॥१८॥

जो परकीय प्रवृत्ति में मूक, अन्ध और बधिर की उपमा से युक्त हैं तथा स्वगुण के उपार्जन में सज्ज हैं, वे परम ज्योति को प्राप्त करते हैं। (१८)

परेषां गुणदोषेषु, दृष्टिस्ते विषदायिनी।
स्वगुणानुभवालोकाद्, दृष्टिः पीयूषवर्षिणी ॥१९॥

दूसरों के गुण दोषों पर रही हुई तेरी दृष्टि विष की वृष्टि करने वाली है। स्वगुण का अनुभव करने के प्रकाश युक्त दृष्टि अमृत की वृष्टि करने वाली है। (१९)

स्वरूपादर्शनं[2] श्लाघ्यं, पररूपेक्षणं वृथा।
एतावदेव विज्ञानं, परंज्योतिः प्रकाशकम् ॥२०॥

स्वरूप का दर्शन श्लाघनीय है, पर रूप का ईक्षण वृथा है; इतना ही विज्ञान परम ज्योति का प्रकाशक है। (२०)

स्तोकमप्यात्मनो ज्योतिः, पश्यतो दीपवद्धितम्।
अन्धस्य दीपशतवत्, परंज्योतिर्न बह्वपि ॥२१॥

तनिक आत्म-ज्योति भी दृष्टि युक्त को दीपक की तरह हितकर है। अन्धे के लिये एक सौ दीपकों की तरह अधिक ज्योति भी दूसरों के लिये हितकार नहीं है। (२१)

---

१. सज्जाश्च तेः परं। २. स्वरूपादर्शनं।

समताऽमृतमग्नानां, समाधिधूतपाप्मना ।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, परं ज्योतिः प्रकाशते ।।२२।।

समता रूपी अमृत में निमग्न एवं समाधिपूर्वक पाप-कर्मों के नाशक महात्माओं को रत्नत्रयमय शुद्ध परम ज्योति प्रकाशमय करती है। (२२)

तीर्थंकरा गणधरा, लब्धिसिद्धाश्च साधवः ।
संजातास्त्रिजगद्वन्द्याः, परं ज्योतिष्प्रकाशतः ।।२३।।

तीर्थंकर, गणधर एवं लब्धि-सिद्ध साधु पुरुष परम ज्योति के प्रकाश से त्रिलोक-वंदनीय हुए हैं। (२३)

न रागं नापि च द्वेषं, विषयेषु यदा व्रजेत् ।
औदासीन्यनिमग्नात्मा, तदाप्नोति परं महः ।।२४।।

उदासीन भाव में निमग्न आत्मायें जब विषयों में राग अथवा द्वेष नहीं करती, तब वे परम ज्योति को प्राप्त करती हैं। (२४)

विज्ञाय परमज्योति - र्माहात्म्यमिदमुत्तमम् ।
यः स्थैर्यं याति लभते, स यशोविजयश्रियम् ।।२५।।

परम ज्योति का यह उत्तम माहात्म्य समझ कर जो स्थिरता प्राप्त करते हैं, वे यश एवं विजय की लक्ष्मी प्राप्त करते हैं, अथवा श्रीयशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। (२५)

—०—

न्यायाचार्य–न्यायविशारद–महोपाध्याय

श्रीयशोविजय रचिता

* परमात्म-पञ्चविंशतिका *

परमात्मा परम्ज्योतिः, परमेष्ठी निरञ्जनः ।
अजः सनातनः शुभः, स्वयम्भूर्जयताज्जिनः ।।१।।

परमात्मा, परंज्योति, परमेष्ठी, निरंजन, अज, सनातन, शंभु एवं स्वयंभू श्री जिनेश्वर प्रभु की जय हो। (१)

नित्यं विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, नमस्तस्मै परात्मने ।।२।।

जहाँ निरन्तर विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म प्रतिष्ठित है, उन शुद्ध बुद्ध स्वभावी परमात्मा को नमस्कार हो। (२)

अविद्याजनितैः सर्वै -र्विकारैरनुपद्रुतः ।
व्यक्त्या शिवपदस्थोऽसौ, शक्त्या जयति सर्वगः ।।३।।

जो अज्ञान-जनित समस्त प्रकार के विकारों से अनुपद्रुत हैं, व्यक्ति के द्वारा शिव-पद में विद्यमान हैं और शक्ति के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। (३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।
शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः ।।४।।

जहाँ से वाणी लौट आती है और जहाँ से मन की गति नहीं होती; केवल शुद्ध अनुभव से ही ज्ञात हो सकने वाला परमात्मा का स्वरूप है। (४)

न स्पर्शो यस्य नो वर्णो, न गन्धो न रसश्रुतिः ।
शुद्धचिन्मात्रगुणवान्, परमात्मा स गीयते ।।५।।

जिनके स्पर्श नहीं है, वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है तथा शब्द नहीं है और जो केवल शुद्ध ज्ञान-गुण के धारक हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। (५)

माधुर्यातिशयो यद्वा, गुणौघः परमात्मनः ।
तथाऽऽख्यातुं न शक्योऽपि, प्रत्याख्यातुं न शक्यते ।।६।।

अथवा अतिशय मधुरता के धारक परमात्मा का समुदाय अमुक प्रकार का है, यह भी नहीं कहा जा सकता और अमुक प्रकार का नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। (६)

बुद्धो जिनो हृषीकेशः, शम्भुर्ब्रह्मादिपुरुषः ।
इत्यादिनामभेदेऽपि, नाऽर्थतः स विभिद्यते ।।७।।

बुद्ध, जिन, हृषिकेश, शंभु, ब्रह्मा आदिपुरुष इत्यादि नामों से अनेक भेद युक्त होने पर भी अर्थ से तनिक भी भेद नहीं है। (७)

धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।
समुद्रा[1] इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ।।८।।

दौड़ते हुए अनेक नय परमात्मा के स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते। जिस प्रकार समुद्र की तरंगें समुद्र में लौट आती हैं उसी प्रकार से नय भी (परमात्म स्वरूप का स्पर्श किये बिना) पुनः लौट आते हैं। (८)

शब्दोपरक्ततद्रूप, –बोधकृन्नयपद्धतिः (तेः) ।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं, गम्यं नाऽनुभवं विना ।।९।।

नय का मार्ग शब्दों के द्वारा उपरक्त बन कर परमात्म-स्वरूप का बोध कराता है, परन्तु परमात्मा का निर्विकल्प स्वरूप अनुभव के बिना केवल शब्दों से जाना नहीं जा सकता। (९)

केषां न कल्पना दर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
स्तोकास्तत्त्वरसा स्वाद - विदोऽनुभवजिह्वया ।।१०।।

शास्त्ररूपी क्षीरान्न का अवगाहन करने वाली कल्पना रूपी कड़छी भला किसे प्राप्त नहीं हुई है ? अनुभव रूपी जीभ (रसना) के द्वारा उसका रसास्वादन करने वाले जगत् में विरले ही हैं। (१०)

जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दान्तात्मानः शुभाशयाः ।
परमात्मगतिं यान्ति, विभिन्नैरपि वर्त्मभिः ।।११।।

जितेन्द्रिय, क्रोध-विजेता, आत्मा का दमन करने वाले और शुभ आशय वाले महापुरुष भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा भी परमात्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (११)

---

१. सामुद्रा इव कल्लोलाः ।

नूनं मुमुक्षवः सर्वे: , परमेश्वरसेवकाः ।
दुरासन्नादिभेदस्तु, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ।।१२।।

समस्त मुमुक्षु आत्मायें निश्चित रूप से परमेश्वर के सेवक ही हैं। दूर, समीप आदि का भेद उनके सेवकत्व में तनिक भी बाधक नहीं होता। (१२)

नाममात्रेण ये दृप्ता, ज्ञानमार्गविवर्जिताः ।
न पश्यन्ति परात्मानं[1], ते घूका इव भास्करम् ।।१३।।

ज्ञान-मार्ग से रहित एवं परमात्मा के नाम मात्र से अभिमानी बने पुरुष, जिस प्रकार उलूक (उल्लू) सूर्य को नहीं देख सकता उसी प्रकार, परमात्मा को देख नहीं सकते। (१३)

श्रमः शास्त्राश्रयः सर्वो, यज्ज्ञानेन फलेग्रहिः ।
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयं, परमात्मा निरञ्जनः ।।१४।।

शास्त्र-सम्बन्धी समस्त परिश्रम, जिनका ज्ञान होने के पश्चात् ही सफल होता है, वे एक निरंजन परमात्मा ही ध्यान करने योग्य एवं उपासना करने योग्य हैं। (१४)

नान्तराया न मिथ्यात्वं, हासो रत्यरती च न ।
न भीर्यस्य जुगुप्सा नो, परमात्मा स मे गतिः ।।१५।।

जिनके अन्तराय नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, हास्य नहीं है, रति नहीं है, अरति नहीं है, भय नहीं है और जुगुप्सा नहीं है वे परमात्मा मुझे शरण-गति देने वाले बनें। (१५)

न शोको यस्य नो कामो, ना ज्ञानाविरती तथा ।
नावकाशश्च निद्रायाः , परमात्मा स मे गतिः ।।१६।।

जिन्हें शोक नहीं है, काम नहीं है, अज्ञान नहीं है, अविरति नहीं है तथा नींद का अवकाश नहीं है वे परमात्मा मेरे शरण-भूत हों। (१६)

रागद्वेषौ हतौ येन, जगत्त्रय भयंकरौ ।
स त्राणं परमात्मा मे, स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।।१७।।

तीनों लोकों के लिये भयंकर राग एवं द्वेष को जिन्होंने नष्ट कर दिया है वे परमात्मा स्वप्न में अथवा जागृत अवस्था में मेरे रक्षक बनें। (१७)

---

१. परेशानं ।

उपाधिजनिता भावा, ये ये जन्मजरादिकाः ।
तेषां तेषां निषेधेन, सिद्धं रूपं परात्मनः ।।१८।।

कर्म रूपी उपाधि से उत्पन्न होने वाले जो-जो जन्म, जरा आदि भाव हैं उन-उन भावों का निषेध होने पर परमात्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। (१८)

अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तत्स्वरूपं[1] कथञ्चन ।।१९।।

"वह इस प्रकार का नहीं है"—यह कह कर सिद्धान्त उसके रूप का वर्णन करते हैं, परन्तु वस्तुतः परमात्मा के स्वरूप का किसी भी प्रकार से वर्णन नहीं किया जा सकता। (१९)

जानन्नपि यथा म्लेच्छो, न शक्नोति पुरीगुणान् ।
प्रवक्तुमुपमाऽभावात्, तथा सिद्धसुखं जिनः ।।२०।।

गांव का निवासी नगर के गुणों को जानते हुए भी उपमाओं के अभाव में उनके विषय में कुछ कह नहीं सकता, इसी प्रकार केवलज्ञानी महात्मा भी उपमाओं के अभाव में सिद्ध परमात्मा के सुख का वर्णन नहीं कर सकते। (२०)

सुरासुराणां सर्वेषां, यत्सुखं पिण्डितं भवेत् ।
एकत्राऽपि हि सिद्धस्य, तदनन्ततमांशगम् ।।२१।।

समस्त सुरासुरों के सुख को यदि एक स्थान पर एकत्रित कर लिया जाये तो भी वह एक सिद्ध के सुख के अनन्तवें भाग जितना भी नहीं होता। (२१)

अदेहा दर्शनज्ञानो –पयोगमयमूर्त्तयः ।
आकालं परमात्मानः, सिद्धाः सन्ति निरामयाः ।।२२।।

सिद्ध परमात्मा देहरहित, दर्शन एवं ज्ञानोपयोग स्वरूप से युक्त तथा सर्वदा रोग एवं पीड़ारहित होते हैं। (२२)

लोकाग्रशिखरारूढ़ाः, स्वभावसमवस्थिताः ।
भवप्रपञ्चनिर्मुक्ताः, युक्तानन्ताऽवगाहनाः ।।२३।।

---

१. तस्य रूपं ।

वे लोक के अग्र भाग रूपी शिखर पर आरुढ़ होते हैं, वे सदा अपने स्वभाव में अवस्थित होते हैं, संसार के प्रपंचों से सर्वथा मुक्त होते हैं और अनन्त सिद्धों की अवगाहना में रहे हुए होते हैं। (२३)

ईलिका भ्रमरीध्यानाद्, भ्रमरीत्वं यथाऽश्नुते ।
तथा ध्यायन् परात्मानं, परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥२४॥

भ्रमरी के ध्यान से जिस प्रकार ईलिका भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करने वाली आत्मा परमात्मत्व प्राप्त करती है। (२४)

परमात्मगुणानेवं[1], ये ध्यायन्ति समाहिताः ।
लभन्ते निभृतानन्दा –स्ते यशोविजयश्रियम् ॥२५॥

इस प्रकार समाधियुक्त मनवाले पुरुष जो परमात्मा के गुणों का ध्यान करते हैं, वे परिपूर्ण आनन्दमय बन कर यश का विजय करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, अथवा श्री यशोविजय की लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। (२५)

१. गुणानेव ।

कलिकालसर्वज्ञ–श्रीमद्–हेमचन्द्राचार्य–विरचित

* वीतराग-स्तोत्रम् *

प्रथम प्रकाश

यः परात्मा परंज्योतिः, परमः परमेष्ठिनाम् ।
आदित्यवर्णं तमसः, परस्तादामनन्ति यम् ॥१॥

जो परात्मा, परंज्योति एवं परमेष्ठियों में प्रधान है, जिन्हें पण्डित-गण अज्ञान से पार पाये हुए एवं सूर्य के समान उद्योत करने वाले मानते हैं। (१)

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेशपादपाः ।
मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरासुरनरेश्वराः ॥२॥

जिन्होंने राग आदि क्लेश-वृक्षों का समूल उन्मूलन कर दिया है, जिनके (चरणों में) सुर, असुर, मनुष्य एवं उनके अधिपति नत मस्तक होते हैं। (२)

प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिकाः ।
यस्य ज्ञानं भवद्भावि - भूतभावावभासकृत् ॥३॥

जिनसे पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली शब्द आदि विद्याएँ प्रवर्तित हैं, जिनका ज्ञान वर्तमान, भावि और भूत भावों का प्रकाशक है। (३)

यस्मिन्विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म चैकात्मतां गतम् ।
स श्रद्धेयः स च ध्येयः, प्रपद्ये शरणं च तम् ॥४॥

जिनमें विज्ञान-केवलज्ञान, आनन्द-सुख और ब्रह्म-परमपद ये तीनों एकात्म-एकरूप हो गये हैं; वे श्रद्धेय हैं तथा ध्येय हैं और मैं उनकी शरण अङ्गीकार करता हूं। (४)

तेन स्यां नाथवांस्तस्मै, स्पृहयेयं समाहितः ।
ततः कृतार्थो भूयासं, भवेयं तस्य किङ्करः ।।५।।

उनके कारण मैं सनाथ हूं, समाहित मन वाला मैं उनकी इच्छा करता हूं, मैं उनसे कृतार्थ होता हूं, और मैं उनका सेवक हूं। (५)

तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च, पवित्रां स्वां सरस्वतीम् ।
इदं हि भवकान्तारे, जन्मिनां जन्मनः फलम् ।।६।।

उनकी स्तुति करके मैं अपनी वाणी पवित्र करता हूं क्योंकि इस भव-वन में प्राणियों के जन्म का यही एक फल है। (६)

क्वाहं पशोरपि पशु –र्वीतरागस्तवः क्व च ।
उत्तितीर्षु ररण्यानीं, पद्भ्यां पङ्गुरिवास्म्यतः ।।७।।

पशु से भी गया बीता मैं कहाँ और सुरगुरु (बृहस्पति) से भी असंभव वीतराग की स्तुति कहाँ ? इस कारण दो पाँवों से बड़े भारी वन को लांघने के अभिलाषी पंगु के समान मैं हूं। (७)

तथापि श्रद्धामुग्धोऽहं, नोपालभ्यः स्खलन्नपि ।
विशृङ्खलापि वाग्वृत्तिः, श्रद्दधानस्य शोभते ।।८।।

तो भी श्रद्धा-मुग्ध मैं प्रभु की स्तुति करने में स्खलित होने पर भी उपालम्भ का पात्र नहीं हूं। श्रद्धालु व्यक्ति की सम्बन्ध-विहीन वाक्य-रचना भी सुशोभित होती है। (८)

श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, –वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपालभूपालः प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ।।९।।

श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस श्री वीतरागस्तव से श्री कुमारपाल भूपाल श्रद्धा-विशुद्धि-लक्षण एवं कर्मक्षय-लक्षण इच्छित फल प्राप्त करें। (९)

—o—

दूसरा प्रकाश

प्रियङ्गु - स्फटिक-स्वर्ण - पद्मरागाञ्जनप्रभः ।
प्रभो ! तवाधौतशुचिः, कायः कमिव नाक्षिपेत् ।।१।।

हे प्रभु ! प्रियंगु के समान नीले वर्ण की, स्फटिक के समान उज्ज्वल वर्ण की, स्वर्ण के समान पीत वर्ण की, पद्मराग के समान लाल और अञ्जन के समान श्याम कान्ति वाली और धोये बिना ही पवित्र आपकी देह भला किसे आश्चर्य-चकित नहीं करेगी ? (१)

मन्दार - दामवन्नित्य - मवासित - सुगन्धिनि ।
तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम् ।।२।।

कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला के समान स्वभाव से ही सुगन्धित आपके देह पर देवाङ्गनाओं के नेत्र भौंरों की तरह मंडराते हैं । (२)

दिव्यामृतरसास्वाद - पोषप्रतिहता इव ।
समाविशन्ति ते नाथ ! नाङ्गे रोगोरगव्रजाः ।।३।।

हे नाथ ! दिव्य अमृत रस के स्वाद की पुष्टि से पराजित हो गये हों उस प्रकार से कास, श्वास आदि रोग रूपी सांपों के समूह आपके देह में प्रविष्ट नहीं होते । (३)

त्वय्यादर्शतलालीन - प्रतिमाप्रतिरूपके ।
क्षरत्स्वेदविलीनत्व - कथाऽपि वपुषः कुतः? ।।४।।

दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब की तरह स्वच्छ आपके देह में से निकलते पसीने से व्याप्त हो ऐसी बात भी कहां से हो सकती है ? (४)

न केवलं रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव ।
वपुः स्थितं रक्तमपि, क्षीरधारासहोदरम् ।।५।।

हे वीतराग ! केवल आपका मन ही राग-रहित है ऐसी बात नहीं है; आपके देह का रुधिर भी दूध की धारा के समान उज्ज्वल है, श्वेत है । (५)

जगद्विलक्षणं किं वा, तवान्यद्वक्तुमीश्महे ? ।
यदविस्रमबीभत्सं, शुभ्रं मांसमपि प्रभो ! ।।६।।

अथवा हे प्रभु ! जगत् से विलक्षण आपका हम अन्य कितना वर्णन करने में समर्थ हो सकते हैं ? क्योंकि आपका मांस भी दुर्गन्ध-विहीन-दुर्गन्छा-विहीन तथा उज्ज्वल है । (६)

जलस्थलसमुद्भूताः, संत्यज्य सुमनः स्रजः ।
तव निःश्वाससौरभ्य - मनुयान्ति मधुव्रताः ॥७॥

जल-थल में उत्पन्न पुष्प-मालाओं का त्याग करके भौंरे आपके निःश्वास की सौरभ लेने के लिये आपके पीछे आते हैं। (७)

लोकोत्तरचमत्कार - करी तव भवस्थितिः ।
यतो नाहारनीहारौ, गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥८॥

आपका संसार में निवास लोकोत्तर चमत्कार (अपूर्व आश्चर्य) उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि आपके आहार एवं नीहार चर्म-चक्षु वालों के लिये अगोचर हैं, अदृश्य हैं। (८)

—०—

तीसरा प्रकाश

सर्वाभिमुख्यतो नाथ !, तीर्थकृन्नामकर्मजात् ।
सर्वथा सम्मुखीनस्त्वमानन्दयसि यत्प्रजाः ॥१॥

हे नाथ ! तीर्थंकर नामकर्म जनित "सर्वाभिमुख्य" नामक अतिशय से, केवल-ज्ञान के प्रकाश से सर्वथा समस्त दिशाओं में सम्मुख रहने वाले आप देव, मनुष्य आदि समस्त प्रजा को समस्त प्रकार से आनन्द प्रदान करते हैं। (१)

यद्योजनप्रमाणेऽपि, धर्मदेशनसद्मनि ।
संमान्ति कोटिशस्तिर्यग्नृदेवाः सपरिच्छदाः ॥२॥

धर्मदेशना की एक योजन भूमि में अपने-अपने परिवार सहित करोड़ों तिर्यंच, मनुष्य एवं देवता समाविष्ट हो जाते हैं। (२)

तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥३॥

अपनी-अपनी भाषा में एक समान ज्ञात हो जाने से आपके मनोहर वचन उन्हें धर्म का बोध कराने वाले हैं। (३)

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्नाः गदाम्बुदाः ।
यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ॥४॥

आपके विहार रूपी वायु की लहरों से सवा सौ योजन के क्षत्र में पूर्वोत्पन्न रोग रूपी बादल तुरन्त विलीन हो जाते हैं। (४)

नाविर्भवन्ति यद्भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः।
क्षरणेन क्षितिप्रक्षिप्ता, अनीतय इवेतयः ।।५।।

राजाओं द्वारा परित्यक्त अनीतियों की तरह भूमि में मूषक (चूहे) शलभ (टिड्डी) और पोपट आदि के उपद्रव क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। (५)

स्त्रीक्षेत्रपद्रादिभवो, यद्वैराग्निः प्रशाम्यति ।
त्वत्कृपापुष्करावर्त्तवर्षादिव भुवस्तले ।।६।।

आपकी कृपा रूपी पुष्करावर्त्त मेघ (बादलों) की वृष्टि से ही मानो आप जहां चरण रखते हैं वहाँ स्त्री, क्षेत्र एवं नगर आदि से उत्पन्न द्वेष रूपी अग्नि का शमन हो जाता है। (६)

तत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे ।
सम्भवन्ति न यन्नाथ !, मारयो भुवनारयः ।।७।।

हे नाथ ! अशिव का उच्छेद करने के लिये डिम-डिम नाद के समान आपका प्रभाव भूमि पर होने से लोक-शत्रु तुल्य महामारी, मरकी आदि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते। (७)

कामवर्षिरिण लोकानां, त्वयि विश्वैकवत्सले ।
अतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद्यन्नोपतापकृत् ।।८।।

लोक-कामित की वृष्टि करने वाले अद्वितीय विश्ववत्सल आपके विद्यमान होने से परितापकारी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि नहीं होती। (८)

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत्क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम् ।
विद्रवन्ति त्वत्प्रभावात्, सिंहनादादिव द्विपाः ।।९।।

जिस प्रकार सिंह-नाद से हाथी भाग जाते हैं उसी प्रकार से स्वराष्ट्र एवं पर-राष्ट्र से उत्पन्न क्षुद्र उपद्रव आपके प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। (९)

यत्क्षीयते च दुर्भिक्षं, क्षितौ विहरति त्वयि ।
सर्वाद्भुतप्रभावाढ्ये, जङ्गमे कल्पपादपे ॥१०॥

समस्त प्रकार के अद्भुत प्रभावशाली जंगम कल्पवृक्ष के समान आपके पृथ्वी पर विचरण करने से दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। (१०)

यन्मूर्ध्नः पश्चिमे भागे, जितमार्त्तण्डमण्डलम् ।
माऽभूद्वपुर्दुरालोकमितीवोत्पिण्डितं महः ॥११॥

आपके देह के दर्शन में रुकावट न हो उसके लिये ही मानो सुर-असुरों ने आपके मस्तक के पीछे एक स्थान पर ही एकत्रित किए हुए आप के देह का ही मानो महातेज न हो ऐसे सूर्य-मण्डल से भी अधिक तेजस्वी तेज का मण्डल–भामण्डल स्थापित किया हुआ है। (११)

स एष योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्रुतः ।
कर्मक्षयोत्थो भगवन्कस्य नाश्चर्यकारणम् ? ॥१२॥

हे भगवन् ! घाती कर्म के क्षय से उत्पन्न विश्व-विख्यात योग साम्राज्य की महिमा भला किसे आश्चर्य-चकित नहीं करती ? (१२)

अनन्तकालप्रचित - मनन्तमपि सर्वथा ।
त्वत्तो नान्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः ॥१३॥

अनन्त काल से उपार्जित अनन्त कर्म-वन का आपके सिवाय अन्य कोई भी मूलोच्छोदन करने में समर्थ नहीं है। (१३)

तथोपाये प्रवृत्तस्त्वं, क्रियासमभिहारतः ।
यथानिच्छन्नुपेयस्य, परां श्रियमशिश्रियः ॥१४॥

हे प्रभु ! चारित्र रूपी उपाय में बार बार के अभ्यास से आप उस प्रकार से प्रवृत्त हुए हैं जिससे अनिच्छा से भी मोक्ष रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी आपने प्राप्त की है। (१४)

मैत्रीपवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।
कृपोपेक्षाप्रतीक्षाय, तुभ्यं योगात्मने नमः ॥१५॥

मैत्री भावना के पवित्र पात्र स्वरूप, प्रमोद भावना के द्वारा सुशोभित तथा करुणा एवं मध्यस्थ भावना के द्वारा पूजनीय आप योगात्मा (योग स्वरूप) को नमस्कार हो। (१५)

—०—

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् ।
तिलकं तीर्थकृल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ॥१॥

मिथ्यादृष्टियों के लिये प्रलयकालीन सूर्य समान तथा सम्यग्-दृष्टियों के लिये अमृत के अञ्जन समान शान्ति-दायक, तीर्थंकर की लक्ष्मी के तिलक-स्वरूप हे प्रभु ! आपके आगे धर्मचक्र सुशोभित हो रहा है। (१)

एकोऽयमेव जगति, स्वामीत्याख्यातुमुच्छ्रिता ।
उच्चैरिन्द्रध्वजव्याजात्तर्जनी जम्भविद्विषा ॥२॥

"जगत में वीतराग ही एक स्वामी है"—यह कहने के लिये इन्द्र ने ऊंचे इन्द्रध्वज के बहाने अपनी तर्जनी अंगुली ऊंची की हो ऐसा प्रतीत होता है। (२)

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः ।
किरन्ति पङ्कजव्याजाच्छ्रियं पङ्कजवासिनीम् ॥३॥

जहां आपके दो चरण पड़ते हैं वहां देव एवं दानव स्वर्ण कमल के बहाने कमल में निवास करने वाली लक्ष्मी का विस्तार करते हैं। (३)

दानशीलतपोभाव - भेदाद्धर्मं चतुर्विधम् ।
मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान् ॥४॥

मैं यह मानता हूं कि दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का धर्म एक साथ स्पष्ट करने के लिये ही आप चार मुंह युक्त हुए हैं।(४)

त्वयि दोषत्रयात् त्रातुं, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् ।
प्राकारत्रितयं चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ॥५॥

तीनों लोकों को राग, द्वेष तथा मोह रूपी तीनों दोषों से बचाने के लिये आपके प्रवृत्त होने से वैमानिक, ज्योतिषी और भुवनपति तीन प्रकार के देवों ने रत्नमय, स्वर्णमय एवं रजतमय तीन प्रकार के किलों (समवसरण) की रचना की है। (५)

अधोमुखाः कण्टकाः स्युर्धात्र्यां विहरतस्तव ।
भवेयुः सम्मुखीनाः किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ?॥६॥

आपके पृत्वी पर विचरण करने से कांटे अधोमुखी हो जाते हैं। क्या सूर्योदय होने पर उलूक अथवा अंधकार का समूह ठहर सकता है ? (६)

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् ।
बाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थकरैः परैः ।।७।।

आपके बाल, रोम, नाखून और दाढ़ी-मूछों के बाल, दीक्षा ग्रहण करने के समय जितने होते हैं उतने ही रहते हैं । इस प्रकार की बाह्य योग की महिमा भी अन्य देवों ने प्राप्त नहीं की । (७)

शब्दरूपरसस्पर्श–गन्धाख्याः पञ्च गोचराः ।
भजन्ति प्रातिकूल्यं न, त्वदग्रे तार्किका इव ।।८।।

आपके समक्ष अन्य (बौद्ध) तार्किकों की तरह शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध रूप पांचों इन्द्रियों के विषय प्रतिकूल नहीं होते, अनुकूल रहते हैं । (८)

त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत्पर्युपासते ।
आकालकृतकन्दर्प – साहायकभयादिव ।।९।।

मानो अनादि काल से कामदेव को की गई सहायता के भय से ही समस्त ऋतुयें एक साथ आकर आपके चरणों की सेवा करती हैं। (९)

सुगन्ध्युदकवर्षेण, दिव्यपुष्पोत्करेण च ।
भावित्वत्पादसंस्पर्शां, पूजयन्ति भुवं सुराः ।।१०।।

जिस भूमि पर भविष्य में आपके चरणों का स्पर्श होने वाला है उस भूमि को देवतागण सुगन्धित जल की वृष्टि से तथा दिव्य पुष्पों के समूह से पूजते हैं । (१०)

जगत्प्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम् ।
का गतिर्महतां तेषां, त्वयि ये वामवृत्तयः ? ।।११।।

हे विश्व पूज्य ! पक्षी भी आपकी प्रदक्षिणा करते हैं, तो फिर आपके प्रति प्रतिकूल व्यवहार करने वाले तथाकथित बड़े पुरुषों की क्या गति समझी जाये ? (११)

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, क्व भवेद् भवदन्तिके ।
एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ।।१२।।

आपके समक्ष पंचेन्द्रिय तो दुष्टता कर ही कैसे सकते हैं, क्योंकि एकेन्द्रिय वायु भी आपके समक्ष प्रतिकूलता का त्याग कर देता है। (१२)

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः ।
तत्कृतार्थं शिरस्तेषां, व्यर्थं मिथ्यादृशां पुनः ।।१३।।

हे प्रभु ! आपके माहात्म्य से चमत्कृत वृक्ष भी आपके समक्ष नत मस्तक होते हैं जिससे उनके मस्तक कृतार्थ हैं, किन्तु आपके समक्ष नत मस्तक नहीं होने वाले मिथ्यात्वियों के मस्तक व्यर्थ हैं । (१३)

जघन्यतः कोटिसंख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुराः ।
भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा अप्युदासते ।।१४।।

हे प्रभु ! जघन्य से एक करोड़ देव एवं असुर आपकी सेवा करते हैं; क्योंकि भाग्योदय से प्राप्त पदार्थ के लिये मन्द आत्मा भी उदासीन नहीं रहते। (१४)

—०—

पांचवां प्रकाश

गायन्निवालिविरुतैर्नृत्यन्निवचलैर्दलैः ।
त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ।।१।।

हे नाथ ! भौंरों के गुञ्जन से मानो गीत गाता हो, चंचल पत्तों के द्वारा मानो नृत्य करता हो तथा आपके गुणों से मानो रक्त हुआ हो उस प्रकार से यह अशोक वृक्ष प्रफुल्लित हो रहा है। (१)

आयोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तबन्धनाः ।
जानुदध्नीः सुमनसो, देशनोर्व्यां किरन्ति ते ।।२।।

हे नाथ ! एक योजन तक जिनके दींटड़े नीचे हैं ऐसे जानु प्रमाण पुष्पों को देवतागण आपकी देशना भूमि पर बरसाते हैं। (२)

मालवकैशिकीमुख्य –ग्रामराग पवित्रितः ।
तव दिव्यो ध्वनिः पीतो, हर्षोद्ग्रीवैमृगैरपि ।।३।।

मालकोस आदि ग्राम राग से पवित्र बनी आपकी दिव्य ध्वनि का ऊंची गर्दन वाले मृगों ने भी हर्ष से पान किया है । (३)

तवेन्दुधामधवला, चकास्ति चमरावली ।
हंसालिरिव वक्त्राब्ज –परिचर्यापरायणा ।।४।।

चन्द्रमा की कान्ति के समान उज्ज्वल चामरों की श्रेणी मानो आपके मुख-कमल की सेवा में तत्पर हंसों की श्रेणी के समान सुशोभित है । (४)

मृगेन्द्रासनमारूढे, त्वयि तन्वति देशनाम् ।
श्रोतु ं मृगास्समायान्ति, मृगेन्द्रमिव सेवितुम् ।।५।।

देशना देने के लिये आपके सिंहासन पर बैठने पर आपकी देशना का श्रवण करने के लिए जो मृग आते हैं वे मानो अपने स्वामी मृगेन्द्र (सिंह) की सेवा करने के लिए आते हुए प्रतीत होते हैं । (५)

भासां चयैः परिवृतो, ज्योत्स्नाभिरिव चन्द्रमाः ।
चकोराणामिव दृशां, ददासि परमां मुदम् ।।६।।

जिस प्रकार ज्योत्स्ना युक्त चन्द्रमा चकोर पक्षियों के नेत्रों को आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार से तेज-पु ंज-स्वरूप भामण्डल से युक्त आप सज्जनों के चक्षुओं को परमानन्द प्रदान करते हैं । (६)

दुन्दुभिर्विश्वविश्वेश !, पुरो व्योम्नि प्रतिध्वनन् ।
जगत्याप्तेषु ते प्राज्यं, साम्राज्यमिव शंसति ।।७।।

हे समस्त विश्व के ईश ! आकाश में आपके आगे प्रतिध्वनि करती हुई देव - दुन्दुभि मानो विश्व के आप्त पुरुषों में आपका परम साम्राज्य है यह घोषणा करती हो, उस प्रकार से ध्वनि करती है । (७)

तवोर्ध्वमूर्ध्वं पुण्यर्द्धि –क्रमसब्रह्मचारिणी ।
छत्रत्रयी त्रिभुवन –प्रभुत्वप्रौढिशंसिनी ।।८।।

वृद्धि होती हुई आपकी पुण्य ऋद्धि के क्रम के समान एक दूसरे पर आये हुए तीन छत्र मानो तीनों लोकों में छाई हुई आपकी प्रभुता की प्रौढ़ता बता रहे हैं। (८)

एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रियं तव ।
चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ ! मिथ्यादृशोऽपि हि ।।९।।

हे नाथ ! चमत्कारपूर्ण आपकी इस प्रातिहार्य लक्ष्मी को देखकर किन मिथ्यात्वियों को आश्चर्य नहीं होता ? अर्थात् सभी को आश्चर्य होता है। (९)

—०—

छठा प्रकाश

लावण्यपुण्यवपुषि, त्वयि नेत्रामृताञ्जने ।
माध्यस्थ्यमपि दौःस्थ्याय, किं पुनर्द्वेषविप्लवः ।।१।।

नेत्रों के लिये अमृत के अञ्जन के समान और लावण्य से पवित्र देह वाले आपके लिये मध्यस्थता धारण करना भी दुःख के लिये है, तो फिर द्वेष भाव धारण करने वालों के लिये तो कहना ही क्या ? (१)

तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविप्लुतः ।
अनया किंवदन्त्याऽपि, किं जीवन्ति विवेकिनः ।।२।।

आपके भी प्रतिपक्षी (शत्रु) हैं और वे भी क्रोध आदि से व्याप्त हैं। इस प्रकार की किंवदन्ति (कुत्सित बात) सुनकर विवेकी पुरुष क्या प्राण धारण कर सकते हैं ? कदापि नहीं। (२)

विपक्षस्ते विरक्तश्चेत्, स त्वमेवाथ रागवान् ।
न विपक्षो विपक्षः किं, खद्योतो द्युतिमालिनः? ।।३।।

आपका विपक्ष यदि विरक्त है तो वह आप ही हैं और यदि रागी है तो वह विपक्ष ही नहीं है। क्या सूर्य का शत्रु (विपक्ष) खद्योत (जुगनू) हो सकता है ? (३)

स्पृहयन्ति वद् योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमाः।
योग-मुद्रादरिद्राणां, परेषां तत्कथैव का ? ॥४॥

आपके योग की स्पृहा लवसप्तम अनुत्तर विमानवासी देव भी करते हैं। योग-मुद्रा से रहित पर-दार्शनिकों में उस योग की बात भी क्यों हो ? नहीं होगी। (४)

त्वां प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे।
त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूमः? किमु कुर्महे? ॥५॥

आपको हम नाथ के रूप में स्वीकार करते हैं, आपकी हम स्तुति करते हैं और आपकी हम उपासना करते हैं; क्योंकि आपसे अधिक अन्य कोई हमारा रक्षक नहीं है, आपकी स्तुति से अधिक अन्य कुछ भी बोलने योग्य नहीं है और आपकी उपासना से अधिक अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। (५)

स्वयं मलीमसाचारैः, प्रतारणपरैः परैः।
वञ्चयते जगदप्येतत्कस्य पूत्कुर्महे पुरः ? ॥६॥

स्वयं मलिन आचार वाले और पर को ठगने में तत्पर अन्य देवों के द्वारा यह विश्व ठगा जा रहा है। हे नाथ ! हम किसके समक्ष जाकर पुकार करें ? (६)

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म --क्षेमक्षयकृतोद्यमान्।
वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवाश्चेतनः श्रयेत् ॥७॥

नित्य मुक्त एवं जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने में प्रयत्नशील वन्ध्या (बांझ) के पुत्र के समान देवों का कौन सचेतन व्यक्ति आश्रय ग्रहण करेगा ? (७)

कृतार्था जठरोपस्थ –दुःस्थितैरपि दैवतैः।
भवादृशान्निह्नुवते, हा हा ? देवास्तिकाः परै ॥८॥

जठर (उदर) एवं उपस्थ (इन्द्रियवर्ग) से पीडित देवों से कृत्कृत्य बने अन्य देव – आस्तिक कुतीर्थिक आप जैसे का अपलाप करते है, जो सचमुच अत्यन्त दुखः का विषय है। (८)

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च ।
संमान्ति देहे गेहे वा, न गेहेनर्दिनः परे ॥९॥

आकाश के पुष्प के समान किसी वस्तु की कल्पना करके और उसे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण को प्रस्तुत करके घर में शूरवीर(गेहेनर्दी) परतीर्थिक अपने देह में अथवा घर में समाते नहीं हैं अर्थात् हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है यह मानकर व्यर्थ फूलते हैं। (९)

कामराग-स्नेहरागा -वीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् , दुरुच्छेदः सतामपि ॥१०॥

काम-राग एवं स्नेह-राग का निवारण सुकर है, किन्तु पापी दृष्टि-राग सज्जन पुरुषों के लिये भी दुरुच्छेद है। (१०)

प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पृणं वचः।
इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥११॥

प्रसन्न मुख, मध्यस्थ लोचन और लोकप्रिय वचनों के धारक अत्यन्त प्रेम के स्थान स्वरूप आपके विषय में भी मूढ लोग उदासीन रहते हैं।(११)

तिष्ठेद्वायुर्द्रवेदद्रि -र्ज्वलेज्जलमपि क्वचित् ।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यै -र्नाप्तो भवितुमर्हति ॥१२॥

कदाचित् वायु स्थिर हो जाये, पर्वत पिघल जाये और जल जाज्वल्यमान हो जाये, तो भी राग आदि से ग्रस्त पुरुष आप्त होने के योग्य नहीं है। (१२)

—०—

सातवां प्रकाश

धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः।
मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥१॥

धर्म और अधर्म विहीन देह नहीं होता, देह के बिना मुंह नहीं होता और मुंह के बिना वाणी नहीं होती। तो फिर धर्म, अधर्म और देह आदि से रहित अन्य देव उपदेशक कैसे हो सकते हैं ? (१)

अदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरपि नोचिता ।
न च प्रयोजनं किंचित्, स्वातन्त्र्या(त्र्या)न्न पराज्ञया ।।२।।

देह रहित के लिये जगत् का सृजन करने की प्रवृत्ति भी उचित नहीं है, कृतकृत्य होने से सृजन करने का कोई प्रयोजन नहीं है और स्वतन्त्र होने से दूसरे की आज्ञा पर भी चलना नहीं है। (२)

क्रीडया चेत्प्रवर्त्तेत, रागवान् स्यात कुमारवत् ।
कृपयाऽथ सृजेत्तर्हि, सुख्येव सकलं सृजेत् ।।३।।

क्रीडा के लिये यदि प्रवृत्त हो तो बालक की तरह रागी सिद्ध होगा और यदि कृपा से करे तो समस्त जगत् को सुखी ही करे। (३)

दुःखदौर्गत्यदुर्योनि —जन्मादिक्लेशविह्वलम् ।
जनं तु सृजतस्तस्य, कृपालोः का कृपालुता ? ।।४।।

दुःख, दुर्गति और दुष्ट योनियों में जन्म आदि के क्लेश से विह्वल जगत् का सृजन करने वाले उस कृपालु की कृपा कहां रही ? (४)

कर्मापेक्षः स चेत्तर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् ।
कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ।।५।।

दुःख आदि देने में यदि वह प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रखता है तो वह हमारी-तुम्हारी तरह स्वतन्त्र नहीं है, यही सिद्ध होता है और जगत् की विचित्रता यदि कर्म - जनित है तो शिखण्डी की तरह उसको बीच में लाने की भी क्या आवश्यकता है ? (५)

अथ स्वभावतो वृत्ति —रवितर्क्या महेशितुः ।
परीक्षकाणां तर्ह्येष, परीक्षाक्षेपडिण्डिमः ।।६।।

और यदि महेश्वर की यह प्रवृत्ति स्वभाव से ही है किन्तु तर्क करने योग्य नहीं है, इस प्रकार कहोगे तो वह परीक्षकों को परीक्षा करने का निषेध करने के लिये ढोल बजाने के समान है। (६)

सर्वभावेषु कर्तृत्वं, ज्ञातृत्वं यदि सम्मतम् ।
मतं नः सन्ति सर्वज्ञा, मुक्ताः कायभृतोऽपि च ।।७।।

समस्त पदार्थों का ज्ञातृत्व ही यदि कर्तृत्व है तो उस बात से हम भी सहमत हैं, क्योंकि हमारा यह मत है कि सर्वज्ञ, मुक्त-देह रहित (सिद्ध) है और देहधारी (अरिहन्त) भी है। (७)

सृष्टिवादकुहेवाक –मुन्मुच्यत्यप्रमाणकम् ।
त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ।।८।।

हे नाथ ! जिनके ऊपर आप प्रसन्न हैं, वे आत्मा प्रमाण रहित सृष्टिवाद का दुराग्रह छोड़ कर आपके शासन में रमण करते हैं। (८)

—०—

आठवां प्रकाश

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे, कृतनाशाकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाकृतागमौ ।।१।।

पदार्थ की एकान्त नित्यता मानने में कृतनाश एवं अकृतागम नामक दो दोष हैं। एकान्त अनित्यता मानने में भी कृतनाश एवं अकृतनाश नामक दो दोष विद्यमान हैं। (१)

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुःखयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयोः ।।२।।

आत्मा को एकान्त नित्य मानने में सुख - दुःख का भोग घटता नहीं है। एकान्त अनित्य स्वरूप मानने में भी सुख - दुःख का भोग घटता नहीं है। (२)

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नानित्यैकान्तदर्शने ।।३।।

एकान्त नित्य दर्शन में पुण्य - पाप और बन्ध - मोक्ष घटते नहीं हैं। एकान्त अनित्य दर्शन में भी पुण्य - पाप और बंध-मोक्ष घटते नहीं हैं। (३)

क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।।४।।

नित्य पदार्थों में क्रम से अथवा बिना क्रम से अर्थ-क्रिया घटती नहीं है और एकान्त क्षणिक पक्ष में भी क्रम से अथवा क्रम के बिना अर्थक्रिया घटती ही नहीं है। (४)

यदा तु नित्यानित्यत्व —रूपता वस्तुनो भवेत्।
यथार्थं भगवन्नेव, तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

हे भगवन्! आपके कथनानुसार यदि वस्तु की नित्यानित्यता हो तो किसी भी प्रकार का दोष नहीं आता है। (५)

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम्।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

गुड से कफ उत्पन्न होता है और सौंठ से पित्त होता है। जब गुड और सौंठ मिश्रित कर ली जायें तब दोष नहीं रहता, किन्तु भेषज(औषधि) स्वरूप हो जाता है। (६)

द्वयं विरुद्धं नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः।
विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

इसी प्रकार से एक वस्तु में नित्यत्व एवं अनित्यत्व दो विरुद्ध धर्मों का रहना भी विरुद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से उसमें विरोध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मेचक (काबड़चीती) वस्तुओं में विरुद्ध वर्णों का संयोग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। (७)

विज्ञानस्यैकमाकारं, नानाकारकरम्बितम्।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विचित्र आकार रहित विज्ञान एक आकार वाला है। यह स्वीकार करने वाला प्राज्ञ बौद्ध भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नहीं कर सकता। (८)

चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

एक चित्ररूप, अनेक रूप युक्त प्रमाण सिद्ध है यह कहने वाला योग अथवा वैशेषिक अनेकान्तवाद का उत्थापन नहीं कर सकता। (९)

इच्छन्प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सतोगुण, रजोगुण आदि विरुद्ध गुणों से गुम्फित एक प्रधान (प्रकृति) का चाहक विद्वानों में मुख्य सांख्य भी अनेकान्तवाद का उत्थापन नहीं कर सकता । (१०)

विमतिस्सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु, यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

परलोक, आत्मा और मोक्ष आदि प्रमाण सिद्ध पदार्थों के विषय में भी जिसकी मति उदासीन है ऐसे चार्वाक नास्तिक की विमति है अथवा सम्मति है यह देखने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । (११)

तेनोत्पादव्ययस्थेम - सम्मिश्रं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः, प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ॥१२॥

उस कारण से बुद्धिमान पुरुष समस्त सत् पदार्थों को आपके कथनानुसार गोरस आदि की तरह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से मिश्रित मानते हैं । (१२)

—०—

नवां प्रकाश

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते ।
कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः ॥१॥

जहां अल्पकाल में आपकी भक्ति का फल प्राप्त किया जा सकता है वह केवल एक कलियुग ही स्पृहणीय हो; कृतयुग आदि अन्य युगों को जाने दो । (१)

सुषमातो दुःषमायां, कृपा फलवती तव ।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः ॥२॥

सुषम काल की अपेक्षा दुःषम कलिकाल में आपकी कृपा अधिक फलवती है । मेरु पर्वत की अपेक्षा मरुभूमि में कल्पवृक्ष की स्थिति अधिक प्रशंसनीय है । (२)

श्राद्धः श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयातां यदीश ! तत् ।
त्वच्छासनस्य साम्राज्य –मेकच्छत्रं कलावपि ।।३।।

हे ईश ! श्रद्धावान श्रोता एवं बुद्धिमान वक्ता दोनों का योग हो जाये तो इस कलियुग में भी आपके शासन का एकछत्र साम्राज्य है। (३)

युगान्तरेऽपि चेन्नाथ ! भवन्त्युच्छृङ्खलाः खलाः ।
वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये ।।४।।

हे नाथ! अन्य कृतयुग आदि में भी गोशाला जैसे उच्छृंखल व्यक्ति होते हैं तो फिर अयोग्य क्रीड़ा वाले इस कलियुग के ऊपर हम व्यर्थ ही कुपित होते हैं। (४)

कल्याणसिद्ध्यै साधीयान् कलिरेव कषोपलः ।
विनाऽग्निं गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ।।५।।

कल्याण की सिद्धि के लिये इस कलियुग रूपी कसौटी का पत्थर ही श्रेष्ठ है। अग्नि के बिना काकतुण्ड (अगर) धूप के गन्ध की महिमा में वृद्धि नहीं होती। (५)

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी ।
कलौ दुरापः प्राप्तोऽयं, त्वत्पादाब्जरजः कणः ।।६।।

रात्रि में दीपक, सागर में द्वीप, मरु-भूमि में वृक्ष और शीतकाल में अग्नि की तरह कलियुग में दुर्लभ आपके चरण-कमलों की रज हमें प्राप्त हुई है। (६)

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविना कृतः ।
नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ।।७।।

हे नाथ ! अन्य युगों में आपके दर्शन किये बिना ही मैंने संसार में परिभ्रमण किया है। अतः इस कलियुग को ही नमस्कार है कि जिसमें मुझे आपके दर्शन हुए। (७)

बहुदोषो दोषहीनात्त्वतः कलिरशोभत ।
विषयुक्तो विषहरात्फणीन्द्र इव रत्नतः ।।८।।

हे नाथ ! विषाक्त (विषैला) विषधर जिस प्रकार विषहारी रत्न से सुशोभित होता है, उसी प्रकार से अनेक दोषों से युक्त यह कलियुग समस्त दोषों से रहित आपसे शोभायमान है। (८)

—०—

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसादस्त्वत्प्रसादादियं पुनः ।
इत्यन्योन्याश्रयं भिन्धि, प्रसीद भगवन् ! मयि ।।१।।

हे भगवन् मेरी प्रसन्नता से आपकी प्रसन्नता और आपकी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस प्रकार के अन्योन्याश्रय दोष का आप भेदन करें और मुझ पर प्रसन्न हों। (१)

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षमः ।
स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुणान् ।।२।।

हे स्वामी ! आपके रूप की शोभा निहारने के लिये हजार नेत्रों वाला (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है तथा आपका गुण-गान करने के लिये हजार जीभ वाला (शेष नाग) भी समर्थ नहीं है। (२)

संशयान् नाथ ! हरसेऽनुत्तरस्वर्गिणामपि ।
अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुणः स्तुत्योऽस्ति वस्तुतः ।।३।।

हे नाथ ! आप यहां हैं तो भी अनुत्तर विमान-वासी देवताओं के संशय दूर करते हैं। अतः अन्य कोई भी गुण वस्तुतः परमार्थ से स्तुति करने योग्य है ? अर्थात् नहीं है। (३)

इदं विरुद्धं श्रद्धतां, कथमश्रद्दधानकः ! ।
आनन्दं सुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च समं त्वयि ।।४।।

अखण्ड आनन्द स्वरूप सुख में आसक्ति एवं सकल संग से विरक्ति ये दो विपरीत बातें आपमें एक साथ विद्यमान हैं। अश्रद्धालु मनुष्य इस बात की श्रद्धा कैसे करें ? (४)

नाथेयं घट्यमानापि, दुर्घटा घटतां कथम् ? ।
उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ।।५।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियों से उपेक्षा (राग-द्वेष-रहितता) और परमोपकारिता (सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग की उपदेशकता) ये दो बातें आप में प्रत्यक्ष प्रतीत होती होने से घटित, फिर भी अन्य देवों में अघटित हो सकती है ? (५)

द्वयं विरुद्धं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित् ।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ।।६।।

हे भगवन् ! श्रेष्ठ निर्ग्रन्थता (निःस्पृहता) और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व (धर्म सम्राट् पदवी) ये दो विरुद्ध बातें आपके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव में नहीं है। (६)

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु ।
पवित्रं तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ।।७।।

अथवा तो जिनके पांचों कल्याणक पर्वों में नारकीय जीव भी सुख प्राप्त करते हैं, उनके पवित्र चारित्र का वर्णन करने में कौन समर्थ है। (७)

शमोऽद्भुतोऽद्भुतं रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता ।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्यं भगवते नमः ।।८।।

अद्भुत समता, अद्भुत रूप और समस्त प्राणियों पर अद्भुत कृपा करने वाले तथा समस्त अद्भुतों के महानिधान हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो। (८)

—०—

गयारहवां प्रकाश

निघ्नन्परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्यं, महतां कापि वैदुषी ।।१।।

हे नाथ ! परीषहों की सेना का संहार करने वाले तथा उपसर्गों का तिरस्कार करने वाले आपने समता रूपी अमृत की तृप्ति प्राप्त की है। अहो ! बड़ों की चतुराई कुछ अद्भुत होती है। (१)

अरक्तो भुक्तवान्मुक्ति –मद्विष्टो हतवान्द्विषः ।
अहो ! महात्मनां कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ।।२।।

हे नाथ ! आप राग-रहित हैं फिर भी मुक्ति-रमणी का उपभोग करते हैं और द्वेष-रहित हैं फिर भी आप आंतरिक शत्रुओं का संहार करते हैं। अहो ! लोक में दुर्लभ महान आत्माओं की महिमा कोई अद्भुत ही होती है। (२)

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः ।
त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ।।३।।

हे नाथ ! सर्वथा जीतने की अनिच्छा होने पर भी तथा पाप से अत्यन्त भयभीत होते हुए भी आपने तीनों लोकों को जीत लिया है। सचमुच महान आत्माओं की चतुराई कोई अद्भुत ही होती है। (३)

दत्तं न किञ्चित्कस्मैचिन्नात्तं किञ्चित्कुतश्चन ।
प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ।।४।।

हे नाथ ! आपने किसी को कुछ (राज्य आदि) दिया नहीं और किसी से कुछ (दण्ड आदि) लिया नहीं, तो भी आपका यह प्रभुत्व है जिससे यह लगता है कि कुशल पुरुषों की कला कोई अद्भुत होती है। (४)

यद्देहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जितं परैः ।
उदासीनस्य तन्नाथ !, पादपीठे तवालुठत् ।।५।।

हे नाथ ! देह का दान देकर भी अन्यों ने जो सुकृत नहीं कमाया, वह सुकृत उदासीनता से रहने वाले आपके पादपीठ में लेटता रहा। (५)

रागादिषु नृशंसेन, सर्वात्मसु कृपालुना ।
भीमकान्तगुणेनोच्चैः, साम्राज्यं साधितं त्वया ।।६।।

हे नाथ ! राग आदि के प्रति क्रूर एवं समस्त प्राणियों के प्रति दयालु आपने भयानकता तथा मनोहरता रूपी दो गुणों से महान् साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। (६)

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ।।७।।

हे नाथ ! पर-तीर्थिकों में समस्त प्रकार के समस्त दोष हैं और आपमें समस्त प्रकार से समस्त गुण हैं। यदि आपकी यह स्तुति मिथ्या हो तो सभासद प्रमाण हैं। (७)

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् ।
अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमत् ।।८।।

अहो ! हर्ष की बात यह है कि बड़े से बड़े और महात्माओं द्वारा भी पूजनीय स्वामी की आज मैं स्तुति कर रहा हूँ। (८)

—०—

पट्वभ्यासादरैः पूर्वं, तथा वैराग्यमाहरः ।
यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥१॥

हे नाथ ! पूर्वभवों में आदर पूर्वक के सुन्दर अभ्यास से आपने उस प्रकार का वैराग्य प्राप्त किया था कि जिससे आपको इस (चरम) भव में जन्म से ही सहज वैराग्य प्राप्त हुआ है। सारांश यह है कि आप जन्म से ही विरागी हैं। (१)

दुःखहेतुषु वैराग्यं, न तथा नाथ ! निस्तुषम् ।
मोक्षोपायप्रवीणस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥२॥

हे नाथ ! मोक्ष प्राप्ति के उपाय में प्रवीण आपको, सुख-हेतुओं में जिस प्रकार का वैराग्य होता है, उसी प्रकार का वैराग्य दुःख-हेतुओं में नहीं होता; क्योंकि दुःख-हेतु वाला वैराग्य क्षणिक होने से भव-साधक है और सुख - हेतु वैराग्य निश्चल होने से मोक्ष - साधक है। (२)

विवेकशाणैर्वैराग्य, -शस्त्रं शातं त्वया तथा ।
यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षा -दकुण्ठितपराक्रम् ॥३॥

हे नाथ ! आपने विवेक रूपी शराण से वैराग्य रूपी शस्त्र को उस प्रकार से घिस कर तीक्ष्ण किया है कि जिससे मोक्ष के लिये भी उस वैराग्य रूपी शस्त्र का पराक्रम साक्षात् अकुण्ठित रहा। (३)

यदामरुन्नरेन्द्रश्री -स्त्वया नाथोपभुज्यते ।
यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्वं तदापि ते ॥४॥

हे नाथ ! जब आप पूर्व भव में देव-ऋद्धि का और मनुष्य भव में राज्य ऋद्धि का उपभोग करते हैं तब भी जहां जहां आपकी रति(आसक्ति) प्रतीत होती है वह भी विरक्ति होती है; क्योंकि उस ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी भोग-फल वाले कर्म का बिना भोगे हुए क्षय नहीं होगा यह सोचकर आप अनासक्ति से ही उपभोग करते हैं।[1] (४)

---

1. इस श्लोक में भगवान के पूर्व भव तथा राज्य अवस्था की वैराग्य दशा का वर्णन है।

नित्यं विरक्तः कामेभ्यो, यदा योगं प्रपद्यसे ।
अलमेभिरिति प्राज्यं, तदा वैराग्यमस्ति ते ।।५।।

हे नाथ ! यद्यपि आप काम-भोगों से सदा विरक्त हैं तब भी जब आप रत्नत्रय रूपी योग को स्वीकार करते हैं, तब 'इन विषयों से छुट्टी' ऐसा विशाल वैराग्य आप में होता है ।[1] (५)

सुखे दुःखे भवे मोक्षे, यदौदासीन्यमीशिषे ।
तदा वैराग्यमेवेति, कुत्र नासि विरागवान् ? ।।६।।

जब आप सुख, दुःख, संसार और मोक्ष में मध्यस्थता (उदासीनता) धारण करते हैं; तब भी आपको वैराग्य होता ही है[2] । अतः आप कहाँ और कब विरागी नहीं हैं ? आप तो सर्वत्र विरागी ही हैं । (६)

दुःखगर्भे मोहगर्भे, वैराग्ये निष्ठिताः परे ।
ज्ञानगर्भं तु वैराग्यं, त्वय्येकायनतां गतम् ।।७।।

हे भगवन् ! परतीर्थिक तो दुःख - गर्भित एवं मोह-गर्भित वैराग्य में स्थित हैं परन्तु ज्ञान-गर्भित वैराग्य तो केवल आप में ही एकीभाव को प्राप्त है । (७)

औदासीन्येऽपि सततं, विश्वविश्वोपकारिणे ।
नमो वैराग्यनिघ्नाय, तायिने परमात्मने ।।८।।

उदासीनता में भी निरन्तर समस्त विश्व पर उपकार करने वाले वैराग्य में तत्पर, सबके रक्षक एवं परब्रह्म स्वरूप परमात्मा को हमारा नमस्कार हो । (८)

—०—

---

1. इस श्लोक में भगवान के दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् छद्मस्थ दशा के वैराग्य का वर्णन है ।
2. इस श्लोक में भगवान की कैवल्य - दशा तथा सिद्धदशा के वैराग्य का वर्णन है ।

अनाहूतसहायस्त्वं, त्वमकारणवत्सलः ।
अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं, त्वमसम्बन्धबान्धवः ।।१।।

हे भगवन् ! मोक्ष - मार्ग में प्रयाण करने वाले प्राणियों को आप बिना बुलाये ही सहायता करने वाले हैं, अकारण-वत्सल हैं, प्रार्थना किये बिना ही आप अन्य व्यक्तियों का कार्य करने वाले हैं तथा बिना सम्बन्ध के ही आप विश्व के बंधु हैं ।।१।।

अनक्तस्निग्धमनस –ममृजोज्ज्वलवाक्पथम् ।
अधौतामलशीलं त्वां, शरण्यं शरणं श्रये ।।२।।

हे नाथ ! ममता रूपी चिकनाई से बिना चुपड़े ही स्निग्ध मन वाले, मार्जन किये बिना ही उज्ज्वल वाणी का उच्चारण करने वाले तथा धोये बिना ही निर्मल शील के धारक आप हैं; अतः शरण ग्रहण करने योग्य मैं आपकी शरण अंगीकार करता हूं । (२)

अचण्डवीरव्रतिना, शमिना समवर्तिना ।
त्वया काममकुट्यन्त, कुटिलाः कर्म–कण्टकाः ।।३।।

बिना क्रोध के वीर व्रत वाले, प्रशम रूपी अमृत के योग से विवेक युक्त चित्त वाले तथा सबके प्रति समान भाव/पूर्ण व्यवहार करने वाले आपने कर्म रूपी कुटिल कण्टकों को पूर्णतः कुचल दिया है । (३)

अभवाय महेशाया –गदाय नरकच्छिदे ।
अराजसाय ब्रह्मणे, कस्मैचिद् भवते नमः ।।४।।

भव (महादेव) नहीं तो भी महेश्वर, गदा नहीं तो भी नरक का छेदन करने वाले नारायण, रजो गुण नहीं तो भी ब्रह्मा ऐसे कोई एक आपको नमस्कार हो ।[1] (४)

---

1. श्री वीतराग प्रभु अभव–भव रहित हैं, महेश–तीर्थंकर लक्ष्मी स्वरूप परम ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, अगद–रोग रहित हैं, नरकच्छिद–धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने से भव्य प्राणियों की नरक गति के छेदक हैं, अराजस–कर्म रूपी रजरहित हैं तथा ब्रह्मा–परब्रह्म स्वरूप मोक्ष में लीन होने से ब्रह्मा रूप हैं ।

अनुक्षित - फलोदग्रा -दनिपातगरीयसः ।
असङ्कल्पितकल्पद्रो, -स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ।।५।।

समस्त वृक्ष जल-सिंचन से ही समय पर फल देते हैं, गिरने पर ही अत्यन्त बोझ वाले होते हैं और प्रार्थना करने से ही वांछित वस्तु प्रदान करते हैं, परन्तु आप तो सिंचन किये बिना ही उदग्र-परिपूर्ण फल-दायक, गिरे बिना ही अर्थात् स्व-स्वरूप में रहने से ही गौरवपूर्ण तथा प्रार्थना किये बिना ही वांछित प्रदान करने वाले हैं। ऐसे (अपूर्व) कल्प-वृक्ष स्वरूप आपसे मैं फल प्राप्त करता हूँ। (५)

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः ।
मध्यस्थस्य जगत्त्रातु -रनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ।।६।।

इस श्लोक में परस्पर विरुद्ध विशेषण बताये हैं। जो संगरहित होता है वह लोक का स्वामी नहीं होता, जो ममता रहित हो वह किसी पर कृपा नहीं करता और जो मध्यस्थ-उदासीन हो वह अन्य की रक्षा नहीं करता; परन्तु आप तो समस्त संग के त्यागी होते हुए भी जगत् के लोगों के द्वारा सेव्य होने के कारण जनेश हैं, ममता रहित होते हुए भी जगत् के समस्त प्राणियों पर कृपा करने वाले हैं, राग-द्वेष का नाश किया हुआ होने से मध्यस्थ – उदासीन होते हुए भी एकान्त हितकारी धर्म का उपदेश देने से संसार से त्रस्त जगत् के जीवों के रक्षक हैं। उपर्युक्त विशेषणों से युक्त चिन्ह – कुग्रह रूपी कलंक रहित आपका मैं सेवक हूँ। (जो सेवक होता है वह तलवार, बन्दूक आदि किसी चिन्ह से युक्त होता है।) (६)

अगोपिते रत्ननिधा -ववृते कल्पपादपे ।
अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयार्पितः ।।७।।

नहीं छिपाये हुए रत्न के निधि के समान, कर्मरूपी बाड से अपरिवृत कल्पवृक्ष के समान और अचिन्तनीय चिन्तामणि रत्न के समान आपको (आपके चरण-कमलों में) मैंने अपनी यह आत्मा समर्पित कर दी है। (७)

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् ।
प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ।।८।।

हे नाथ ! आप सिद्धत्व स्वरूप फल वाले केवल देह युक्त हैं। मैं ज्ञान आदि के फल सिद्धत्व के यथावस्थित स्मरण से भी रहित हूं। अतः मैं क्या करूँ ? इस विषय में मैं जड़ (मूढ़) हूं। मुझ पर कृपा करके आप मुझे करने योग्य विधि बताने की कृपा करें। (८)

—०—

चौदहवां प्रकाश

मनोवचःकाय-चेष्टाः, कष्टाः संहृत्य सर्वथा ।
श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥१॥

मन, वचन, काया की सावद्य चेष्टाओं का सर्वथा परित्याग करके आपने स्वभाव से ही (शिथिलता से ही) मन रूपी शल्य को दूर किया है। (१)

संयतानि न चाक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च ।
इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजयः कृतः ॥२॥

हे प्रभु ! आपने बल पूर्वक इन्द्रियों को नियन्त्रित नहीं की तथा लोलुपता से उन्हें स्वतन्त्र भी नहीं छोड़ी, परन्तु यथावस्थित वस्तु तत्त्व को अंगीकार करने वाले आपने सम्यक् प्रकार से कुशलता पूर्वक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है। (२)

योगस्याष्टाङ्गता नूनं, प्रपञ्चः कथमन्यथा ? ।
आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥३॥

हे योग रूपी समुद्र का पार पाये हुए भगवन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। वे केवल प्रपंच (विस्तार) प्रतीत होते हैं, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो आपको बाल्यावस्था से ही ये योग स्वाभाविक रीति से ही क्यों प्राप्त हों ? अर्थात् यह योग प्राप्ति का क्रम सामान्य योगियों की अपेक्षा से है। आप तो योगियों के भी नाथ हैं, अतः आपके लिये ऐसा होने में कोई आश्चर्य नहीं है। (३)

विषयेषु विरागस्ते, चिरं सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥४॥

दीर्घकाल से परिचित विषयों के प्रति भी आपको वैराग्य है और कदापि नहीं देखे हुए योग के लिये तन्मयता है। हे स्वामी ! आपका यह चरित्र कोई अलौकिक है। (४)

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे ।
यथाऽपकारिणि भवा –नहो ! सर्वमलौकिकम् ।।५।।

उपकार करने में तत्पर भक्तों पर भी अन्य देव उतने प्रसन्न नहीं होते जितने प्रसन्न आप आपका अपकार करने वाले (कमठ, गोशाला आदि) प्राणियों पर होते हैं। अहो ! आपका समस्त अलौकिक है। (५)

हिंसका अप्युपकृता, आश्रिता अप्युपेक्षिताः ।
इदं चित्रं चरित्रं ते, के वा पर्यनुयुञ्जताम् ? ।।६।।

हे वीतराग ! (चण्डकौशिक आदि) हिंसकों पर आपने उपकार किया है और (सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्रमुनि आदि) आश्रितों की आपने उपेक्षा की है। आपके इस विचित्र चरित्र के विरुद्ध प्रश्न भी कौन उठा सकता है। (६)

तथा समाधौ परमे, त्वयात्माविनिवेशितः ।
सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ।।७।।

आपने अपनी आत्मा को परम समाधि में उस प्रकार स्थापित कर दी है कि जिससे मैं सुखी हूं अथवा नहीं ? अथवा मैं दुःखी हूं अथवा नहीं, इसका भी आपको ध्यान न रहा, उसका ज्ञान होने की आपने तनिक भी परवाह तक नहीं की। (७)

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् ।
इति ते योगमाहात्म्यं, कथं श्रद्धीयतां परैः ? ।।८।।

ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों आपमें अभेद रूप में हैं। इस प्रकार के आपके योग के माहात्म्य में अन्य किस प्रकार श्रद्धा कर सकते हैं ? (८)

—०—

पंद्रहवां प्रकाश

जगज्जैत्रा गुणास्त्रात –रन्ये तावत्तवासताम् ।
उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ।।१।।

हे जग-रक्षक ! जगत को जीतने वाले आपके अन्य गुण तो दूर रहें परन्तु आपकी उदात्त (पराजित न कर सकें वैसी) एवं शान्त मुद्रा ने ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है। (१)

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः ।
गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः, पाप्मभिस्त्वमपोहितः ॥२॥

हे नाथ ! इन्द्र आदि से भी महान् आपका जिन्होंने अनादर किया है उन्होंने अज्ञान से मेरु को तृण के समान समझा है और समुद्र को गाय के खुर के समान माना है । (२)

च्युतश्चिन्तामणिः पाणे –स्तेषां लब्धा सुधा सुधा ।
यैस्त्वच्छासनसर्वस्व –मज्ञानैर्नात्मसात्कृतम् ॥३॥

जिन अज्ञानियों ने आपके शासन का सर्वस्व (धन) अपने अधीन नहीं किया, उनके हाथ से चिन्तामणि रत्न गिर पड़ा है और प्राप्त हुआ अमृत व्यर्थ गया है। (३)

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टि –मुल्मुकाकारधारिणीम् ।
तमाशुशुक्षणिः साक्षा –दालप्यालमिदं हि वा ॥४॥

हे भगवन् ! आपके लिये भी जो मनुष्य जलते उलमुक के आकार को धारण करने वाली दृष्टि रखते हैं उन्हें साक्षात् अग्नि जला डाले अथवा ऐसा वचन नहीं कहना ही उत्तम है । (४)

त्वच्छासनस्य साम्यं ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः ।
विषेण तुल्यं पीयूषं, तेषां हन्त ! हतात्मनाम् ॥५॥

हे नाथ ! खेद की बात है कि जो आपके शासन को अन्य शासनों के समान मानते हैं उन अज्ञानियों के लिये अमृत भी विष के समान है । (५)

अनेडमूका भूयासु –स्ते येषां त्वयि मत्सरः ।
शुभोदर्काय वैकल्य –मपि पापेषु कर्मसु ॥६॥

हे नाथ ! जिन्हें आपके प्रति ईर्षा है वे बहरे और गूँगे हो जायें, क्योंकि पर-निन्दा का श्रवण एवं उच्चारण आदि पाप-कार्यों में इन्द्रियों की रहितता शुभ परिणाम के लिये ही है, अर्थात् कान एवं जीभ के अभाव में आपकी निन्दा का श्रवण एवं उच्चारण नहीं कर सकने से वे दुर्गति में नहीं जायेंगे, यह उन्हें भविष्य में महान् लाभ है । (६)

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान्समुपास्महे ।
त्वच्छासनामृतरसै –र्यैरात्माऽसिच्यतान्वहम् ।।७।।

हे नाथ ! आपके शासन रूपी अमृत रस से जिन्होंने अपनी आत्मा का सदा सिंचन किया है, उन्हें हमारा नमस्कार हो। उन्हें हम दो हाथ जोड़ते हैं और उनकी हम उपासना करते हैं। (७)

भुवे तस्यै नमो यस्यां, तव पादनखांशवः ।
चिरं चूडामणीयन्ते, ब्रूमहे किमतः परम् ? ।।८।।

हे नाथ ! उस भूमि को भी नमस्कार हो जहां आपके चरणों के नाखूनों की किरणें चिरकाल तक चूडामणि के समान सुशोभित होती हैं। इससे अधिक हम क्या कहें ? (८)

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहुः ।
जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम –रामणीयकलम्पटः ।।९।।

हे नाथ ! आपके गुण समूह की रमणीयता में मैं बार-बार तन्मय हुआ हूँ जिससे मेरा जन्म सफल है, मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ। (९)

—०—

सोलहवाँ प्रकाश

त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मयः ।
पराणयन्ति मां नाथ !, परमानन्दसम्पदम् ।।१।।

हे नाथ ! एक ओर आपके आगम रूपी अमृत के पान से उत्पन्न उपशम रस की तरंगें मुझे बलपूर्वक मोक्ष की सम्पदा प्राप्त कराती हैं। (१)

इतश्चानादिसंस्कार –मूर्च्छितो मूर्च्छयत्यलम् ।
रागोरगविषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ।।२।।

तथा दूसरी ओर अनादिकालीन संस्कार से उत्पन्न राग रूपी उरग (साँप) के विष का वेग मुझे मूर्च्छित कर देता है – मोहित कर देता है। विनष्ट आशा वाला मैं अब क्या करूं ? (२)

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत्कर्मवैशसम् ।
तद्वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ।।३।।

हे नाथ ! राग रूपी साँप के विष से व्याप्त मैंने जो अयोग्य कार्य किये हैं, उनका वर्णन करने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ । अतः मेरे प्रच्छन्न पापों को धिक्कार है । (३)

क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः, क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यैः क्रीडयैवाहं, कारितः कपिचापलम् ।।४।।

हे प्रभु ! मैं क्षण भर सांसारिक सुखों में आसक्त हुआ हूँ तो क्षण भर उक्त सुख के विपाक का विचार करने से विरक्त हुआ हूँ; क्षण भर क्रोधी हुआ हूँ तो क्षण भर के लिये क्षमाशील हुआ हूँ । इस प्रकार की चपल क्रीडाओं से ही मोह आदि मदारियों ने मुझे बन्दर की तरह नचाया है । (४)

प्राप्यापि तव सम्बोधिं, मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दुश्चेष्टितैर्मया नाथ !, शिरसि ज्वालितोऽनलः ।।५।।

हे नाथ ! आपका धर्म पाकर भी मैंने मन, वचन और काया के व्यापारों से उत्पन्न दुष्ट चेष्टाओं से सचमुच अपने मस्तक पर अग्नि जलाई है । (५)

त्वय्यपि त्रातरि त्रात -र्यन्मोहादिमलिम्लुचैः ।
रत्नत्रयं मे ह्रियते, हताशो हा हतोऽस्मि तत् ।।६।।

हे रक्षक ! आप रक्षक विद्यमान हैं तो भी मोह आदि चोर मेरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नों का हरण करके जा रहे हैं, जिससे हा ! मैं हताश हो गया हूँ । (६)

भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्वं, मयैकस्तेषु तारकः ।
तत्तवाङ्घ्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ ! तारय तारय ।।७।।

मैं अनेक मतों में भटका हूँ परन्तु उन सब में मैंने आपको ही तारणहार के रूप में देखा है, जिससे मैं आपके चरणों से लिपट गया हूँ । अतः हे नाथ ! आप कृपा करके मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो । (७)

भवत्प्रसादेनैवाह -मियतीं प्रापितो भुवम् ।
औदासीन्येन नेदानीं, तव युक्तमुपेक्षितुम् ॥८॥

हे नाथ ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी भूमिका को, आपकी सेवा की योग्यता को प्राप्त कर सका हूँ। अतः अब उदासीनता से मेरी उपेक्षा करना योग्य नहीं है, उचित नहीं है। (८)

ज्ञाता तात ! त्वमेवैक -स्त्वत्तो नान्यः कृपापरः ।
नान्यो मत्तः कृपापात्र -मेधि यत्कृत्यकर्मठः ॥९॥

हे तात् ! आप ही एक ज्ञाता हैं। आपसे अधिक अन्य कोई दयालु नहीं है और मुझसे अधिक अन्य कोई कृपापात्र (दया पात्र) नहीं है। करने योग्य कार्य में आप कुशल हैं अतः जो करने योग्य हो उसे आप करने के लिये तत्पर बनें। (९)

—०—

सत्रहवाँ प्रकाश

स्वकृतं दुष्कृतं गर्हन्, सुकृतं चानुमोदयन् ।
नाथ ! त्वच्चरणौ यामि, शरणं शरणोज्झितः ॥१॥

हे नाथ ! किये गये दुष्कृतों की गर्हा एवं किये गये सुकृतों की अनुमोदना करता हुआ, अन्य की शरण से रहित मैं आपके चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ। (१)

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतिकारितैः ।
मिथ्या मे दुष्कृतं भूया -दपुनः क्रिययान्वितम् ॥२॥

हे भगवन् ! करने, कराने और अनुमोदना के द्वारा मन वचन काया से हुए पाप के लिए जो दुष्कृत लगा हो उसे पुनः नहीं करने की प्रतिज्ञा से आपके प्रभाव से मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो। (२)

यत्कृतं सुकृतं किञ्चिद्, रत्नत्रितयगोचरम् ।
तत्सर्वमनुमन्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि ॥३॥

हे नाथ ! रत्नत्रयी के मार्ग का केवल अनुकरण करने वाला जो कुछ भी सुकृत मैंने किया हो उस सबकी मैं अनुमोदना करता हूँ। (३)

सर्वेषामर्हदादीनां, यो योऽर्हत्त्वादिको गुणः ।
अनुमोदयामि तं तं, सर्वं तेषां महात्मनाम् ।।४।।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में जो जो आर्हन्त्य, सिद्धत्व, पंचाचार के पालन में प्रवीणता, सूत्रों की उपदेशकता और रत्नत्रयी की साधना आदि जो जो गुण हैं उन समस्त गुणों की मैं अनुमोदना करता हूँ । (४)

त्वां त्वत्फलभूतान् सिद्धां -स्त्वच्छासनरतान्मुनीन् ।
त्वच्छासनं च शरणं, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ।।५।।

हे भगवन् ! भाव अरिहन्त आपकी, आपके फलभूत (अरिहन्तों का फल सिद्ध है) समस्त कर्मों से मुक्त एवं लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध भगवानों की, आपके शासन में अनुरक्त मुनिवरों की और आपके शासन की शरण मैंने भावपूर्वक ग्रहण की है । (५)

क्षमयामि सर्वान्सत्त्वान्सर्वे क्षाम्यन्तु ते मयि ।
मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशरणस्य मे ।।६।।

हे नाथ ! समस्त प्राणियों से मैं क्षमा याचना करता हूँ, समस्त प्राणी मुझे क्षमा करें, मेरे प्रति कलुषता को त्याग कर मुझे क्षमा प्रदान करें । केवल आपके ही शरणागत मुझ में उन सबके प्रति मैत्री, मित्रभाव, हितबुद्धि हो । (६)

एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमपि कस्यचित् ।
त्वदङ्घ्रिशरणस्थस्य, मम दैन्यं न किञ्चन ।।७।।

हे नाथ ! मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ, फिर भी आपके चरणों की शरण ग्रहण किये हुए मुझ में तनिक भी दीनता नहीं है। (७)

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परां त्वदनुभावजाम् ।
तावन्मयि शरण्यत्वं, मा मुञ्चः शरणं श्रिते ।।८।।

हे विश्व-वत्सल ! आपके प्रभाव से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट पदवी—मुक्तिपद मुझे प्राप्त न हो, तब तक शरणागत मेरे, आप पालक बने रहें, पालकता का त्याग नहीं करें । (८)

—०—

न परं नाम मृद्वेव, कठोरमपि किञ्चन ।
विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये ॥१॥

केवल सुकोमल वचनों से ही नहीं, किन्तु विशेषज्ञ–हितकारी स्वामी को अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कुछ कठोर वचनों से भी विनती करनी चाहिये । (१)

न पक्षिपशुसिंहादि –वाहनासीनविग्रहः ।
न नेत्रगात्रवक्त्रादि –विकारविकृताकृतिः ॥२॥

हे स्वामिन् ! लौकिक देवों की तरह आपका शरीर हंस, गरुड आदि पक्षियों; छाग, वृषभ, सिंह, व्याघ्र आदि पशुओं के वाहन पर आरूढ़ नहीं है; तथा आपकी आकृति भी उन देवों की तरह नेत्र, गात्र (शरीर) और मुंह आदि के विकारों से विकृत नहीं है । (२)

न शूलचापचक्रादि –शस्त्राङ्ककरपल्लवः ।
नाङ्गनाकमनीयाङ्ग –परिष्वङ्गपरायणः ॥३॥

हे नाथ ! आप अन्य देवों की तरह कर-पल्लव त्रिशूल, धनुष एवं चक्र आदि शस्त्रों से चिन्हित नहीं हुए हैं; तथा आपकी उत्संग (गोद) स्त्रियों के मनोहर अंग का आलिंगन करने में तत्पर नहीं हुई है । (३)

न गर्हणीयचरित –प्रकम्पितमहाजनः ।
न प्रकोपप्रसादादि –विडम्बितनरामरः ॥४॥

हे नाथ ! अन्य देवों की तरह निन्दनीय चरित्र से आपने महाजनों (उत्तम पुरुषों) को प्रकम्पित नहीं किया; तथा प्रकोप एवं प्रसाद (कृपा) के द्वारा आपने देवताओं और मनुष्यों को विडम्बना में नहीं डाला । (४)

न जगज्जननस्थेम –विनाशविहितादरः ।
न लास्यहास्यगीतादि –विप्लोवप्लुतस्थितिः ॥५॥

हे नाथ ! अन्य देवों की तरह जगत् को उत्पन्न करने में, स्थिर करने में अथवा विनाश करने में आपने आदर नहीं बताया तथा नटों के उचित नृत्य, हास्य और गीत आदि चेष्टाओं के द्वारा आपने अपनी स्थिति को उपद्रवयुक्त नहीं किया । (५)

तदेवं सर्वदेवेभ्यः, सर्वथा त्वं विलक्षणः ।
देवत्वेन प्रतिष्ठाप्यः, कथं नाम परीक्षकैः ? ।।६।।

इस कारण भगवन् ! आप समस्त देवों में समस्त प्रकार से विलक्षण हैं, अतः परीक्षकगण आपको देव के रूप में कैसे प्रतिष्ठित करें ? (६)

अनुस्रोतः सरत्पर्ण -तृणकाष्ठादियुक्तिमत् ।
प्रतिस्रोतः श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ।।७।।

हे नाथ ! पत्ते, तृण (घास) और काष्ठ आदि वस्तु पानी के प्रवाह के अनुकूल चलें यह बात युक्ति-संगत है, परन्तु वे प्रवाह के प्रतिकूल चलें यह बात किस युक्ति से निश्चित की जाये ? (७)

अथवाऽलं मन्दबुद्धि -परीक्षकपरीक्षणैः ।
ममापि कृतमेतेन, वैयत्येन जगत्प्रभो ? ।।८।।

अथवा हे जगत्-प्रभु ! मन्द बुद्धि-युक्त परीक्षकों की परीक्षाओं से मुक्ति हुई तथा मुझे इस प्रकार की परीक्षा करने के हठाग्रह से मुक्ति हुई । (८)

यदेव सर्वसंसारि -जन्तुरूपविलक्षणम् ।
परीक्षन्तां कृतधियस्तदेव तव लक्षणम् ।।९।।

हे स्वामिन् ! समस्त संसारी जीवों के स्वरूप से जो कोई विलक्षण स्वरूप इस विश्व में प्रतीत हो, वही आपका लक्षण है । इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करें । (९)

क्रोधलोभभयाक्रान्तं, जगदस्माद्विलक्षणः ।
न गोचरो मृदुधियां, वीतराग ! कथञ्चन ।।१०।।

हे वीतराग ! यह जगत् क्रोध और भय से आक्रान्त है, व्याप्त है, जबकि आप क्रोध आदि से रहित होने के कारण विलक्षण हैं । अतः मृदु (मन्द) बुद्धि वाले बहिर्मुख पुरुषों को आप किसी भी प्रकार से गोचर (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकते । (१०)

—०—

उन्नीसवाँ प्रकाश

तव चेतसि वर्तेऽह -मिति वार्त्तापि दुर्लभा ।
मच्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्व -मलमन्येन केनचित् ।।१।।

हे नाथ ! लोकोत्तर चरित्रवाले आपके चित्त में मैं रहूँ यह तो असम्भव है परन्तु आपका मेरे चित्त में रहना सम्भव है, और यदि ऐसा हो जाये तो मुझे कोई अन्य मनोरथ करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। (१)

निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित्तुष्ट्याऽनुगृह्य च ।
प्रतार्यन्ते मृदुधियः, प्रलम्भनपरैः परैः ।।२।।

हे नाथ ! ठगने में तत्पर अन्य देव कुछ मन्द बुद्धिवालों को कोप से—शाप आदि देकर और कुछ को प्रसाद से–वरदान आदि देकर ठगते हैं; परन्तु आप जिनके चित्त में हों वे मनुष्य ऐसे कुदेवों के द्वारा ठगे नहीं जाते। अतः आप मेरे चित्त में रहें तो मैं कृतकृत्य ही हूँ। (२)

अप्रसन्नात्कथं प्राप्यं, फलमेतदसङ्गतम् ? ।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः ? ।।३।।

हे नाथ ! कदापि प्रसन्न नहीं होने वाले आपसे फल कैसे प्राप्त किया जाये यह कहना असंगत है, क्योंकि चिन्तामणि रत्न आदि विशिष्ट चेतना रहित हैं फिर भी क्या वे फल प्रदान नहीं करते ? अवश्य करते हैं।

(विशिष्ट चेतना रहित चिन्तामणि आदि स्वयं किसी पर प्रसन्न नहीं होते, फिर भी विधिपूर्वक उनकी आराधना करने वाले को फल प्राप्त होता है। उसी तरह से वीतराग परमात्मा की विधिपूर्वक आराधना करने वाले को फल अवश्य प्राप्त होता है। (३)

वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं[1] परम् ।
आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ।।४।।

हे वीतराग ! आपकी पूजा की अपेक्षा भी आपकी आज्ञा का पालन श्रेष्ठ है, क्योंकि आराधक आज्ञा मोक्ष के लिए होती है और विराधक आज्ञा संसार के लिए होती है। (४)

आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचराः ।
आस्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ।।५।।

---

1 सपर्यायास्तवाज्ञापालनं

आपकी यह आज्ञा सदा हेय-उपादेय के विषय में है, और वह यह है कि आस्रव समस्त प्रकार से हेय (त्याग करने योग्य) हैं और संवर समस्त प्रकार से उपादेय (अंगीकार करने) योग्य करने हैं। (५)

आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती मुष्टि – रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥६॥

आस्रव भय का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है। श्री अरिहन्त देवों के उपदेश का यह संक्षिप्त रहस्य है। अन्य समस्त उसका विस्तार है। (६)

इत्याज्ञाराधनपरा, अनन्ताः परिनिर्वृत्ताः।
निर्वान्ति चान्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथा परे ॥७॥

इस प्रकार की आज्ञा के आराधक अनन्त आत्माओं ने निर्वाण प्राप्त किया है, अन्य कुछ कहीं प्राप्त करते हैं और अन्य अनन्त भविष्य में निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। (७)

हित्वा प्रसादनाद्दैन्य – मेकयैव त्वदाज्ञया।
सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिनः कर्मपञ्जरात् ॥८॥

हे विश्वेश ! जगत् में ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वामी की प्रसन्नता हो तो फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह बात चिन्तामणि के दृष्टान्त से असंगत है--इसी प्रकाश के द्वितीय श्लोक में यह सिद्ध करके बताया गया है। अतः दीनता का त्याग करके निष्कपट भाव से आपकी आज्ञा की आराधना करके भव्य प्राणी कर्म रूपी पिंजरे से सर्वथा मुक्त होते हैं। इस कारण आपकी आज्ञा की आराधना करना ही मुक्ति का एक श्रेष्ठ उपाय है। (८)

—०—

बीसवाँ प्रकाश

पादपीठलुठन्मूर्ध्नि, मयि पादरजस्तव।
चिरं निवसतां पुण्य – परमाणुकणोपमम् ॥१॥

आपके पादपीठ में शीश नमाते समय मेरे ललाट पर पुण्य-परमाणु-कणों के समान आपकी चरण-रज चिरकाल रहे। (१)

मद्दृशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षवाष्पजलोर्मिभिः ।
अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूतं, क्षणात्क्षालयतां मलम् ॥२॥

आपके मुख के प्रति आसक्त मेरे नेत्र पहले अप्रेक्ष्य वस्तुओं को देखने से उत्पन्न पाप-मल को पल भर में हर्षाश्रुओं के जल की तरंगों से धो डालें । (२)

त्वत्पुरो लुठनैर्भूयान्, मद्भालस्य तपस्विनः ।
कृतासेव्यप्रणामस्य, प्रायश्चित्तं किणावलिः ॥३॥

हे प्रभु ! उपासना के लिए अयोग्य अन्य देवों को प्रणाम करने वाली और तीनों लोकों द्वारा सेव्य आपकी उपासना से वंचित रहने से करुणा-स्पद बनी मेरी इस ललाट को आपके समक्ष नमाने से उस पर लगी हुई क्षत की श्रेणी ही प्रायश्चित्त स्वरूप हो । (३)

मम त्वद्दर्शनोद्भूताश्चिरं रोमाञ्चकण्टकाः ।
नुदन्तां चिरकालोत्था -मसद्दर्शनवासनाम् ॥४॥

हे निर्मम-शिरोमणि ! आपके दर्शन से मुझ में चिरकाल तक उत्पन्न रोमांच रूपी कण्टक दीर्घ काल से उत्पन्न कुशासन की दुर्वासना का अत्यन्त नाश करें । (४)

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव ।
मदीयैर्लोचनाम्भोजैः, प्राप्यतां निर्निमेषता ॥५॥

हे नाथ ! अमृत तुल्य आपके मुँह की कान्ति रूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नेत्र रूपी कमल निर्निमेष रहें । (५)

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ ।
त्वद्गुणश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ॥६॥

हे नाथ ! मेरे दोनों नेत्र आपका मुँह देखने में सदा लालायित रहें, मेरे दोनों हाथ आपकी पूजा करने में सदा तत्पर रहें और मेरे दोनों कान आपके गुणों का श्रवण करने के लिये सदा उद्यत रहें । (६)

कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति ।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्यै तस्यै किमन्यया ॥७॥

हे प्रभु ! मेरी यह कुण्ठित वाणी आपके गुण ग्रहण करने के लिये उत्कंठित हो तो उसका कल्याण हो। इसके अतिरिक्त अन्य वाणी से क्या होगा ? (७)

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः ।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नातः परं ब्रुवे ।।८।।

हे नाथ ! मैं आपका प्रेष्य हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ और किंकर हूँ। अतः "यह मेरा है" इस भाव से आप मुझे स्वीकार करें। इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं कहता। (८)

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद् – वीतरागस्तवादितः ।
कुमारपाल – भूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ।।९।।

श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर द्वारा रचित इस श्री वीतराग स्तोत्र से श्री कुमारपाल भूपाल मुक्ति (कर्मक्षय) रूपी अभीप्सित फल प्राप्त करें। (९)

—०—

श्री जिनगुण स्तवन की महिमा

गगन तणु ं जेम नहि मानं ।
तेम अनन्त फल जिन गुण गानं ।।

—श्री सकलचंद्रजी उपाध्याय

(१)

वक्तृत्व एवं कवित्व शक्ति—

स्तुति, स्तवन, प्रशंसा, वर्णवाद आदि एक ही अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द हैं। स्तुति अथवा स्तवन, प्रशंसा अथवा वर्णवाद, व्यक्त-शब्दोच्चार के द्वारा हो सकता है। संसार में ऐसे अनन्त प्राणी हैं कि जिनमें व्यक्त-शब्दोच्चारण की शक्ति ही नहीं है। समस्त एकेन्द्रिय प्राणी इस शक्ति से रहित हैं तथा जीभ वाले दो इन्द्रिय आदि समस्त प्राणी भी वर्णवाद के योग्य व्यक्त-शब्दोच्चार करने की शक्तियुक्त नहीं होते। संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राप्त देवों तथा मनुष्यों को ही अनादि संसार में परिभ्रमण करने से क्वचित् यह शक्ति प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त प्राणी तो स्वकर्म परिणाम से आवृत्त हैं।

प्रबल ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से विशिष्ट चित् शक्ति-चैतन्य से शून्य होते हैं। अतः उनमें कवित्व अथवा वक्तृत्व सुलभ वाचा नहीं होती और जब तक वह वाचा (वाणी) प्राप्त न हो तब तक किसी योग्य का गुण-गान नहीं हो सकता। इस प्रकार की वाणी प्राप्त होने पर भी अधिकतर देव एवं मनुष्य अपनी भवाभिनन्दिता के योग से अन्यों का अर्थात् गुण-गान करने के लिये अयोग्य देव एवं मनुष्यों आदि के अवगुणों का कीर्तन करने के लिये ही प्रयत्नशील होते हैं और इस प्रकार से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके भी स्व आत्मा को मलिन करने में ही प्रवृत्त होते हैं। कुछ ही भव-भीरू महापुरुष इस प्रकार की वक्तृत्व एवं कवित्व शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् स्तुति एवं स्तवन करने योग्य गुणवान देव-गुरु आदि की स्तुति

करने में प्रयत्नशील होते हैं और उस कार्य के द्वारा वे अपनी आत्मा को कर्म-मल से मुक्त करते हैं।

गुरण-वर्णन की आवश्यकता—

गुणवान अथवा अधिक गुणों वाली आत्माओं के अद्भूत गुणों का समुत्कीर्तन करना ही वाणी (सरस्वती) प्राप्ति करने का सच्चा फल है। जो स्तुति करने योग्य होते हैं उनकी स्तुति करने का अवसर जीव को इस भव-वन में किसी समय ही प्राप्त होता है। शक्ति के अभाव में अधिकतर समय तो योग्य पुरुष की स्तुति किये बिना ही व्यतीत होता है और शक्ति प्राप्त होने पर अयोग्य की स्तुति करने में वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा में योग्य की स्तुति करने का अवसर प्राप्त होना अत्यन्त ही कठिन होता है। यह तत्त्व समझने वाले तत्त्वज्ञ महापुरुषों को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त हो जाये तब वे स्तवन करने योग्य महापुरुषों की स्तवना करने में तनिक भी कमी नहीं रखते। इस बात का परिचय आज पूर्वाचार्यों द्वारा रचित असंख्य स्तोत्र, स्तवन एवं स्तुति हमें प्रत्यक्ष रूप से कराती हैं। महापुरुषों को प्राप्त वक्तृत्व शक्ति एवं कवित्व शक्ति का उपयोग श्री जिनेश्वर भगवान के गुण-गान करने के लिए मुक्त रूप से हुआ है। यद्यपि वे इस प्रकार से भी जिनेश्वर देव के एक भी गुण का पूर्णतः उत्कीर्तन करने में समर्थ नहीं हुए हैं--यह बात वे स्वयं स्वीकार करते हैं और उसका कारण भी स्पष्ट ही है, परन्तु सच्चे गुण का वाणी से पूर्णतः वर्णन करना असंभव है। वाणी तो केवल दिशा-निर्देश कर सकती है। अतः पहचान तो उक्त दिशा-निर्देश से होने वाले आत्मानुभव पर आधार रखती है।

विशुद्ध श्रद्धा एवं भक्ति—

किसी भी गुण की सच्ची महिमा वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती, किन्तु मन के द्वारा प्रकट की जा सकती है। अतः एक महापुरुष का कथन है कि--"सत्यगुण के कथन में कदापि अतिशयोक्ति हो ही नहीं सकती, सदा अल्पोक्ति ही रहती है।" इस सत्य को परमार्थदर्शी पूर्व आचार्य प्रवर यथार्थ रूप से समझते थे। इस कारण श्री जिन गुण स्तवन में उन्होंने वाणी की अविरल वृष्टि की तदपि यह अविरल प्रवाह उनके एक भी सद्भूत गुण का तनिक भी वर्णन नहीं कर सका; इस सत्य को उन्होंने स्वीकार किया है। किसी ने बाल-चपलता करने की बात कही है तो किसी ने दोनों भुजाएँ फैला कर समुद्र की विशालता का वर्णन करने जैसी चेष्टा करने की बात कही है।

इस प्रकार समस्त स्तुतिकारों ने अपनी उस विषय की असमर्थता को निःसंकोच भाव से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"हममें सामर्थ्य नहीं होते हुए भी हम श्री जिन-गुण गाने के लिए उद्यत हुए हैं, उसका कारण केवल हमारी श्रद्धा एवं श्री जिन-गुणों के प्रति हमारी भक्ति ही है। परमात्म-गुणों की भक्ति हमें संभव-असंभव के विचार-चातुर्य से रहित करती है; क्योंकि हम जानते हैं कि श्रद्धा एवं भक्ति से बोले हुए उल्टे-सीधे अथवा असम्बद्ध वचन भी बालालाप की तरह श्रोताओं में अरुचि नहीं परन्तु विस्मय एवं कौतुक उत्पन्न किये बिना नहीं रहते।" निर्मल बुद्धि वाले सज्जन पुरुष ऐसी असमंजस पूर्ण चेष्टा की हँसी नहीं उड़ाते, परन्तु वैसा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं; क्योंकि वे निर्मल मतिवाले महापुरुष समझते हैं कि स्तुति कोई गुणों की यथार्थ प्रदर्शक नहीं है, परन्तु स्तुति करने वाली आत्मा में उक्त गुण के प्रति जो विशुद्ध श्रद्धा एवं भक्ति निहित है, उसकी ही केवल प्रदर्शक है।

समस्त स्तवन योग्य महापुरुषों के स्तवन का अन्तर्भाव—

जिसके गुणों के प्रति जिसे श्रद्धा एवं भक्ति है, उसके गुणों का कीर्तन करने के लिये जगत् में कौन प्रवृत्त नहीं होता ? अवाग् एवं अबूझ प्राणी भी अपने पालकों और पोषकों के गुण-गान करने के लिए अपने अंगों-पांगों के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टा करते दृष्टिगोचर होते हैं, तो फिर विशुद्ध वाणी एवं विशुद्ध चैतन्य युक्त आत्मा अपने उपकारियों के गुणों का वर्णन करने के लिए अपनी देह एवं वाणी के द्वारा समस्त संभव प्रयत्न करें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्री जिन-गुण-स्तवन के प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति भी स्वरुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यों और पशुओं तक का गुण-गान करने में क्या कमी रखते हैं ? यदि सोचा जाय तो इस जगत् में सर्वत्र प्रशंसा का साम्राज्य छाया हुआ है। अपने स्वयं के प्रशंसक की प्रशंसा करना वर्तमान समय में शिष्टाचार का एक प्रमुख अंग माना जाता है तथा यदि प्रशंसक की प्रशंसा न की जाये तो उसे शिष्टाचार भंग करने वाला घोषित किया जाता है। इसी प्रकार से जिस व्यक्ति की प्रशंसा जन-समुदाय का अधिकतर वर्ग करता हो अथवा जो व्यक्ति अपने पुण्य-बल से विशाल जन-समुदाय पर सत्ता जमाया हुआ हो, उसकी भी प्रशंसा करनी चाहिये, यह जगत द्वारा स्वीकृत है। यदि ऐसा नहीं किया जाये तो उसे लोगों का अथवा सत्ता का अपराधी

माना जाता है। इस प्रकार इच्छा से अथवा अनिच्छा से जगत् में गुणी अथवा गुणहीन की प्रशंसा होती ही रहती है।

ऐसी दशा में जो मनुष्य श्री जिन-गुण स्तवन के प्रति अपनी अरुचि एवं घृणा प्रदर्शित करते हों, तो वे मनुष्य लोक-स्वभाव से भी सर्वथा अपरिचित हैं, यह कहने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। वस्तुतः यदि विचार किया जाये तो स्तुति करने योग्य स्तुत्यगण में श्री जिनेश्वर भगवान् सर्व-प्रथम आते हैं। श्री जिनेश्वर के अतिरिक्त अन्य गुणी जन इस जगत में अस्तित्व नहीं रखते हों, ऐसी बात नहीं है, परन्तु श्री जिनेश्वर के गुणों का स्तवन करने में सभी के गुणों के स्तवन का समावेश हो जाता है और एक श्री जिनस्तव को छोड़कर अन्य समस्त गुणवानों का स्तवन किया जाये, तो भी वह गुण-स्तवन अपूर्ण ही रहता है, यह बात विचक्षण व्यक्तियों को समझने की अनिवार्य आवश्यकता है।

श्री जिनेश्वर देवों को स्तुति—

श्री जिनेश्वर देवों की स्तुति करने से पूर्व महापुरुष कहते हैं कि हे भगवन् ! हम बुद्धिहीन व्यक्तियों को गुणों के पर्वत तुल्य आपकी स्तुति करने के लिये हमें वाणी प्रदान करने वाले आपके लोकोत्तर (अलौकिक) गुण ही हैं। जिस प्रकार रत्नाकर रत्नों से सुशोभित होता है, उसी प्रकार से हे जगत्-पति ! आप भी ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं आनन्द आदि गुणों से सुशोभित हैं।

मनुष्य लोक में आपका जन्म विनष्ट हुए धर्म-वृक्ष के बीज को पुनः अंकुरित करने के लिये ही हुआ प्रतीत होता है। हे भगवन् ! आपकी भक्ति के अंश मात्र का फल भी महान् ऋद्धि एवं कान्तियुक्त देव जहां विद्यमान हैं ऐसी स्वर्गभूमि में निवास कराता है। हे देव ! आपकी भक्ति-विहीन आत्माओं का महान् तप भी मूर्ख व्यक्तियों को ग्रन्थाध्ययन की तरह केवल कष्टदायी ही होता है। हे वीतराग ! आपके प्रशंसक अथवा निन्दक के प्रति आप समान मनोवृत्ति रखने वाले होते हुए भी आप उस प्रशंसक एवं निन्दक को शुभ-अशुभ भिन्न-भिन्न फल प्रदान करते हैं, यह आश्चर्यजनक है। हे नाथ ! आपकी भक्ति के समक्ष स्वर्ग-लक्ष्मी भी हमें तुच्छ प्रतीत होती हैं। हे भगवन् ! हमारी केवल एक ही अभिलाषा है कि भव-भव में हमारे हृदय में आपके प्रति अक्षय भक्ति जागृत हो।

तीनों लोकों को सनाथ करने वाले एवं कृपारस-सिन्धु हे तीर्थपति ! जिस प्रकार सम-भूतला भूमि से पांच सौ योजन से दूर नन्दन-वन आदि तीन वनों से मेरु पर्वत सुशोभित है, उसी प्रकार से जन्म से ही आप मति आदि तीन ज्ञानों से सुशोभित हैं। हे विश्व-भूषण ! आप जिस क्षेत्र में जन्म धारण करते हैं, वह क्षेत्र तीन भवनों के मुकुट तुल्य आपके द्वारा अलंकृत होने से देव-भूमि से भी उत्तम बन जाता है। आपके जन्म-कल्याणक के महोत्सव से पावन बना दिन भी सदा आप ही के समान वन्दनीय हो जाता है। आपके जन्म आदि के दिनों में नितान्त दुःखी नरक के जीव भी सुख की अनुभूति करते हैं। भला अरिहन्तों का उदय किसका सन्ताप-नाशक नहीं होता ? आपके चरणों का अवलम्बन पाकर अनेक आत्मा इस भयानक भव-सागर को पार कर लेते हैं। क्या जहाज का आधार पाया हुआ लोहा भी सागर को पार नहीं कर पाता ? हे भगवन् ! आप मनुष्य लोक में लोगों के पुण्य से अवतीर्ण होते हैं। वृक्ष विहीन वन में कल्पवृक्ष की तरह और जल विहीन मरुस्थल में नदी के प्रवाह (धारा) के समान आपका जन्म लोगों को अत्यन्त इष्ट होता है।

त्रिलोक रूपी कमल को विकसित करने के लिये भास्कर तुल्य एवं संसार रूपी मरुस्थल में कल्पतरु तुल्य हे जगन्नाथ ! वह मुहूर्त भी धन्य है जिस मुहूर्त में पुनर्जन्म धारण नहीं करने वाले आपका विश्व के प्राणियों के दुःखोच्छेदनार्थ जन्म होता है। उन मनुष्यों को भी धन्य है कि जो अहर्निश आपके दर्शन करते हैं। हे भव-तारणहार ! आपकी उपमा देने के लिये अन्य कोई वस्तु ही नहीं है। आपके समान आप ही हैं, इतना ही कह कर हम रुक जाते हैं। आपके सद्भूत गुणों के विषय में कुछ कहने में भी हम समर्थ नहीं हैं, इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है। स्वयंभूरमण समुद्र के अगाध जल की थाह लेने में भला कौन समर्थ है ?

हे भगवन् ! आपके यथास्थित गुणों का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं तो भी आपके प्रभाव से हमारी बुद्धि का अवश्य विस्तार होगा। हे स्वामी ! त्रस तथा स्थावर दोनों प्रकार के जन्तुओं की हिंसा के परिहार से आप अभयदान की एक दानशाला के समान हैं। आप मृषावाद के सर्वथा परित्याग से प्रिय, पथ्य एवं तथ्य वचन रूपी अमृत-रस के सागर हैं। हे जगत्-पति ! निरुद्ध मोक्ष मार्ग के द्वार को अदत्तादान के प्रत्याख्यान से खोलने वाले आप एक समर्थ द्वारपाल हैं। हे भगवन् ! अखण्ड ब्रह्मचर्य

रूपी महा तेज का विस्तार करने के लिये तथा मन्मथ रूपी अंधकार का मंथन करने के लिये आप एक प्रचण्ड सूर्य हैं।

हे नाथ ! पृथिवी आदि समस्त परिग्रह का एक साथ पलाल-पुञ्ज की तरह परित्याग करने वाले आप त्याग-मूर्ति हैं। पंच महाव्रत रूपी व्रत का बोझा वहन करने के लिये वृषभ तुल्य एवं भव-सिन्धु को पार करने के लिये जहाज तुल्य आपको हमारा पुनः-पुन: नमस्कार हो, पाँच महाव्रतों की सहोदरबहनों के समान पाँच समितियों के धारक आपको पुन:-पुन: नमस्कार हो और आत्मारामैकमन से युक्त, वचन गुप्ति के धारक एवं समस्त चेष्टाओं से निवृत्त आपको पुन: पुन: नमस्कार हो।

हे अखिल विश्व के नाथ ! अखिल विश्व को अभय प्रदान करने वाले ! संसार-सागर-समुत्तारण ! प्रात:काल में आपके दर्शन से हमारे समस्त पाप नष्ट होते हैं। हे नाथ ! भव्य जीवों के मन रूपी जल को निर्मल करने के लिये कतक चूर्ण के समान आपकी वाणी का जय जयकार होता है। हे करुणा-क्षीर-सागर ! आपके शासन रूपी महारथ पर आरोहण करने वालों को दूरस्थ लोकाग्र भी समीप प्रतीत होता है। हे देव ! आप निष्कारण जगबंधु का मैं साक्षात् दर्शन करता हूँ, वह लोक लोकाग्र की अपेक्षा भी मेरे मन में उत्तम है।

हे स्वामी ! आपके दर्शन रूपी महानंद के रस से परिपूर्ण नेत्रों के द्वारा संसार में भी मैं मोक्ष-सुख के आस्वादन का अनुभव करता हूँ। राग-द्वेष एवं कषाय रूपी भयानक शत्रुओं से पीड़ित जगत् भी हे नाथ ! आप अभय देने वाले की कृपा से ही निर्भय है। तत्त्व को आप स्वयं ही बताते हैं, आप ही मार्ग भी बताते हैं तथा विश्व की आप ही रक्षा करते हैं, तो फिर मेरे लिये मांगने का कुछ रहता ही नहीं है। हे भगवन् ! आपकी पर्षदा में परस्पर युद्ध करने वाले शत्रुराज भी मित्र बन कर रहते हैं। हे देव ! आपकी पर्षदा में शाश्वत वैर रखने वाले अन्य जीव भी आपके असीम प्रभाव से अपनी स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर मैत्री धारण करते हैं।

(२)

वाणी का सच्चा फल—

गुणवान के गुणों का उत्कीर्तन करना प्राप्त वाणी का सच्चा फल है। वाणी प्राप्त होने पर उसका कुछ न कुछ उपयोग होता ही रहता है।

मानव-देह में प्राप्त, बोलने एवं सोचने की शक्ति का प्रवाह नित्य होता ही रहता है। जिस प्रकार मन को नियंत्रण में रखना कठिन है, उसी प्रकार से प्राप्त वाणी को भी सर्वथा रोक देना, अमुक अवस्था तक नहीं पहुँचे मनुष्यों के लिये असंभव है। वाणी का कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है, तो फिर उसका सर्वोत्तम उपयोग क्या हो सकता है, उसे खोजना अनिवार्य हो जाता है।

क्या नाम लेने से अथवा गुण गाने से कार्य-सिद्धि संभव है ?—

कुछ मनुष्य कहते हैं कि श्री जिन का नाम लेने से अथवा गुण-गाने से कार्य-सिद्धि हो जाती हो तो अन्न अथवा धन का नाम लेने से अथवा गुण गाने से अन्न अथवा धन की प्राप्ति हो जानी चाहिए। नाम लेना अथवा गुण गाना तो केवल औपचारिक भक्ति है। सच्ची भक्ति तो उस नाम और गुण वाले के गुणों को प्राप्त करने का उद्यम ही है। जो व्यक्ति धन अथवा अन्न प्राप्त करने के लिये उद्यम नहीं करते, उन्हें उनके नाम का जाप अथवा गुणों का स्तवन क्या लाभ करता है ? नाम-स्मरण नहीं करने वाला अथवा वाणी के द्वारा गुणों का लम्बा उत्कीर्तन नहीं करने वाला व्यक्ति भी यदि उनकी प्राप्ति के लिये उचित उद्यम करे तो उसे उस वस्तु की प्राप्ति होगी ही। इस प्रकार नाम-स्मरण अथवा गुणोत्कीर्तन का कोई विशेष फल नहीं है, यह निश्चय करके जो लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तु का एक पक्ष ही ग्रहण करते हैं और कार्य-सिद्धि करने वाले अन्य उपयोगी पक्षों का एकान्तवादी बन कर त्याग करते हैं।

उद्यम एवं आज्ञा-पालन के लिये प्रेरक तत्त्व—

उद्यम अथवा आज्ञा-पालन के बिना कार्य-सिद्धि असंभव है, तो भी उक्त उद्यम की ओर आत्मा को प्रेरित करने वाली प्रथम वस्तु कौनसी है, इस पर चिन्तन करना शेष रहता है। जिसका नाम किसी को ज्ञात नहीं है और जिसके गुणों के प्रति जिसे अनुराग नहीं है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिये कभी उद्यम हुआ हो यह किसी ने कभी नहीं देखा। जहाँ जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उद्यम होता है वहाँ उस वस्तु के नाम का और गुणों का परिचय होता है।

श्री जिन की आज्ञा के पालन के लिये उद्यमशील होने की अभिलाषा उनके गुणों के ज्ञान एवं गान के बिना बन्ध्या रहने के लिये ही सर्जित है।

श्री जिन के गुण-गान में थकान प्रदर्शित करने वाले पुरुष उनकी आज्ञा-पालन का दावा करते हों तो वह प्रायः दम्भ स्वरूप ही सिद्ध होगा। प्रायः कहने का तात्पर्य यह है कि संयोग के अभाव में गुणोत्कीर्तन के बिना भी क्वचित् आज्ञा-पालन हो सकता है, परन्तु आज्ञा-पालक एवं आज्ञा-पालन अभिलाषी व्यक्ति, संयोग एवं शक्ति होते हुए भी श्री जिन का गुणोत्कीर्तन करने वाला न हो, यह असंभव है।

जाप एवं कीर्तन की आवश्यकता—

धन अथवा अन्न का जीव को अनादिकालीन परिचय है। उनका नाम उसके होठों पर और उनके गुण उसके हृदय में गुंथे हुए होते हैं। वह यदि भूलना चाहे तो भी धन एवं अन्न के गुण, उपकार अथवा लाभ भूल नहीं सकता। इस दशा में उसे अन्न अथवा धन का स्वतंत्र जाप करने की आवश्यकता नहीं होती अथवा उनकी स्तुति करने के लिये स्वतंत्र समय निकालने की भी आवश्यकता नहीं होती। श्री जिन अथवा उनके गुणों के लिये जीव की ऐसी दशा नहीं है। श्री जिन के गुणों का परिचय जीव को कदापि हुआ ही नहीं है और यदि हुआ हो तो स्मरण नहीं रहा, उसका प्रमाण यही है कि आज स्मरण कराने पर भी विस्मरण हो जाता है।

श्री जिन के अपार एवं अनन्त गुण, उनका अचिन्त्य प्रभाव, उनमे होने वाला आत्मा को अपूर्व लाभ, उनसे होने वाली निर्विकल्प समाधि और अव्याबाध सुख की प्राप्ति आदि की ओर जीव का चित्त लगता ही नहीं है। चित्त उनकी ओर लगाने के लिये, मन को श्री जिन-गुण में स्थिर करने के लिये और उन गुणों की स्मृति ताजी रखने के लिये उनके नाम एवं गुणों का बार-बार जाप एवं कीर्तन करने की आवश्यकता है। उस नाम एवं गुणों के सतत् जाप, स्मरण एवं स्तवन से ही श्री जिन एवं उनके गुणों का परिचय किया जा सकता है।

वे दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं—

श्री जिन-गुण का अनुरागी बनने के लिये और उस अनुराग में से उत्पन्न होने वाली जिन-गुण प्राप्ति के लिए उद्यम-रसिकता उत्पन्न करने के लिए उनके जाप और स्तवन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जाप तथा स्तवन से समस्त कार्य की सिद्धि हो ही जाती है। **कार्यसिद्धि के लिए तो जाप एवं स्तवन के उपरान्त सेवा, उपासना और**

आज्ञा-पालन आदि अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती ही है, तो भी इन सब में प्राथमिक उपाय के रूप में जाप एवं स्तवन का प्रमुख भाग रहता है। जाप के बिना ध्यान नहीं होता और स्तवन के बिना आज्ञाराधना का उतना उल्लास जागृत नहीं होता।

श्री जिन की यथास्थित आज्ञा की आराधना यथाख्यात् चारित्र का पालन है। यह दशा प्राप्त करने के लिए श्री जिन-गुण-स्तवन भी एक परम आवश्यक साधन है। यथाख्यात् चारित्र तक पहुँचे हुए पुरुष श्री जिन-गुण का स्तवन न करें तो चल सकता है, परन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व ही आज्ञाराधना के नाम पर श्री जिन-गुण-स्तवन आदि का अवलम्बन त्याग देने का वाद करें वे दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं।

आत्म-गुण-प्राप्ति में प्रधान निमित्त—

अथवा श्री जिन-गुण की स्तुति करना भी एक प्रकार से श्री जिनाज्ञा का पालन और आराधन है। "जिस प्रकार अन्न एवं धन की स्तुति करने से अन्न एवं धन प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार से श्री जिन-गुण का स्तवन करने मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती"–यह कहने में दृष्टान्त-वैषम्य है। अन्न एवं धन आत्म-बाह्य पदार्थ हैं। आत्म-बाह्य पदार्थों की प्राप्ति केवल स्मरण, स्तवन अथवा ध्यान से नहीं हो सकती, परन्तु उसके लिए बाह्य प्रयत्नों की भी आवश्यकता होती है; जबकि आत्म-गुणों की प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नों की प्रधानता नहीं होती, किन्तु स्तवन आदि आन्तरिक प्रयत्नों की ही प्रधानता होती है। इसके लिए जिन-गुण स्तवन आत्म-गुणों की प्राप्ति में प्रधान कारण है। इस कारण पूर्व महर्षियों ने इस अंग को भी अन्य अंगों की तरह विशेष रूप से अपनाया है।

श्री जिनेश्वरों की स्तुति—

श्री जिन-गुण-महिमा प्रदर्शित करने के लिये और श्री जिनेश्वर देवों के जगत् के जीवों पर असीम उपकार करने के लिये असाधारण वाक्-शक्ति का प्रवाह बहाने वाले पूर्व महर्षियों का कथन है कि—"जिस प्रकार घड़ों के द्वारा समुद्र के जल का माप निकालना असम्भव है, उसी प्रकार हम जैसे जड़ बुद्धि वाले लाखों पुरुषों के द्वारा गुणों के सागर भगवान् श्री जिनेश्वर देवों के गुणों की थाह लेना भी असम्भव है; फिर भी हम भक्ति से निरंकुश बने हुए अपनी शक्ति अथवा योग्यता का तनिक भी विचार

किये बिना ही त्रिलोकीनाथ श्री तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के लिये उत्साहित होते हैं।"

उन महर्षियों का कथन है कि–"भगवान के गुणों के प्रभाव से हमारी मन्द बुद्धि भी प्रभावशाली हो जाती है। गुणों रूपी पर्वत के दर्शन से भक्ति के वशीभूत बने एवं बुद्धिहीन हम नवीन-नवीन वाणी को प्राप्त करते हैं।"

योगी-पुङ्गवों के द्वारा भी अमूल्य श्री जिनेश्वर देवों का गुण-गान करने के लिये तत्पर बने महर्षि अपनी बाल चेष्टा बता कर प्रभु के गुण-गान में अग्रसर होकर कहते हैं कि—"हे भगवन्! आपको नमस्कार करने वाले तपस्या करने वालों से भी आगे बढ़ जाते हैं और आपकी सेवा करने वाले योगियों से भी अधिक हैं। धन्य पुरुषों को ही, नमस्कार करते समय आपके चरणों के नाखूनों की कान्ति मस्तक के मुकुट को शोभा धारण करती है। किसी से भी साम, दाम, दण्ड अथवा भेद कुछ भी ग्रहण किये बिना ही आप त्रैलोक्य-चक्रवर्त्ती बने हैं, यह सचमुच आश्चर्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त जलाशयों के जल में समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार से हे स्वामी! आप भी जगत् के समस्त जीवों के चित्त में समान रूप से निवास करते हैं। हे देव! आपको स्तुति करने वाले सबके लिये स्तुत्य बन जाते हैं, आपकी अर्चना करने वाले सबके द्वारा अर्चना किये जाने के योग्य हो जाते हैं तथा आपको नमस्कार करने वाले सबके द्वारा नमस्कार किये जाने के पात्र बन जाते हैं। सचमुच आपकी भक्ति अचिन्त्य फल-दायक है।

हे देव! दुःख रूपी दावानल के ताप से दग्ध आत्माओं को आपकी भक्ति आषाढ़ी मेघों की वृष्टि की तरह परम शान्ति प्रदान करने वाली है। हे भगवन्! मोहान्धकार से मूढ़ बनी आत्माओं के लिये आपकी भक्ति विवेक रूपी दीपक प्रज्ज्वलित करने वाली है। आकाश के बादलों की तरह, चन्द्रमा की चांदनी की तरह अथवा मार्ग के छाया-वृक्षों की छाया की तरह आपकी कृपा निर्धन अथवा धनी, मूर्ख अथवा गुणी सबको समान रूप से उपकारी है। हे भगवन्! आपके चरणों के नाखूनों की कान्ति भव-शत्रुओं से त्रस्त आत्माओं को वज्र-पंजर की तरह सुरक्षा प्रदान करती है।

हे देव! उन पुरुषों को धन्य है जो आपके चरणारविन्द के दर्शनार्थ दूर-दूर से भी सदा राजहंसों की तरह दौड़कर आते हैं। संसार के घोर

दुःखों से पीड़ित विवेकी व्यक्ति, जिस प्रकार संसार के जीव शीत से बचने के लिये सूर्य का आश्रय लेते हैं, उस प्रकार हे देव ! वे संसार के दुःखों से बचने के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं। हे भगवन् ! जो आपको अनिमेष-स्थिर नेत्रों से निरन्तर देखते हैं, वे परलोक में निश्चित ही देवत्व (अनिमेष भाव) प्राप्त करते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस प्रकार वस्त्रों का मैल स्वच्छ पानी से साफ हो जाता है, उसी प्रकार हे देव ! आपकी देशना रूपी निर्मल जल से धुली हुई आत्मा कर्म-मल-रहित हो जाती है। हे स्वामी ! आपके नाम-मंत्र का जाप करने वाले व्यक्ति को सर्व-सिद्धि-समाकर्षण-मंत्रत्व को प्राप्त कराता है।

आपकी भक्ति में तल्लीन बनी आत्माओं को भेदन के लिये वज्र अथवा छेदन के लिये शूल भी समर्थ नहीं है। हे देव ! आपके आश्रय को ग्रहण करने वाली गुरुकर्मी आत्मा भी लघुकर्मी हो जाती है। क्या सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण नहीं होता ? हे स्वामी ! आपका ध्यान, स्तवन और पूजा करने वाली आत्मा ही अपने मन, वचन और काया को सफल बनाती हैं। हे स्वामी ! पृथ्वी पर विहरने वाले आपके चरणों की रज मनुष्यों के पाप रूपी वृक्षों का उन्मूलन करने के लिये महान् मदोन्मत्त हाथी का आच-रण कर रही है। हे नाथ ! नैसर्गिक मोह से जन्म से ही मोहान्ध आत्माओं को केवल आप ही विवेक-चक्षु समर्पित करने के लिये समर्थ हैं। जिस प्रकार मन के लिये मेरु दूर नहीं है, उसी प्रकार से आपके चरण-कमलों में भौरों का आचरण करने वाले सेवकों के लिये लोकाग्र भी दूर नहीं है। जिस प्रकार वर्षा के जल से जामुन के वृक्ष से फल गिर जाते हैं, उसी प्रकार से आपकी देशना रूपी जल के सिंचन से प्राणियों के कर्म-पाश शीघ्र ही गल जाते हैं। हे जगन्नाथ ! आपको बार-बार नमस्कार करके मैं आपसे केवल एक ही याचना करता हूँ कि आपकी कृपा से समुद्र के जल की तरह मुझे आपकी अक्षय भक्ति प्राप्त हो।

हे स्वामी ! केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कृतार्थ होने पर भी आप केवल लोगों के लिये ही पृथ्वी पर विहार करते हैं। क्या गगन-मण्डल में सूर्य अपने स्वार्थ के लिये घूमता है ? नहीं, यह बात नहीं है। मध्याह्न में जिस प्रकार प्राणियों की देह की छाया संकुचित हो जाती है, उसी प्रकार से हे प्रभु ! आपके प्रभाव रूपी मध्याह्नकाल का आदित्य प्राणियों की कर्मों को संकुचित कर देता है। नित्य आपके दर्शन करने वाले तिर्यंचों को भी धन्य है, जबकि आपके दर्शन से वंचित स्वर्गवासी भी धन्य नहीं हैं। जिन

व्यक्तियों के हृदय रूपी चैतन्य के आप अधिष्ठाता बने हैं, उन भव्यात्माओं से महान् जगत में अन्य कोई है ही नहीं ।

हे भगवन् ! आप कहीं भी हों, परन्तु हमारे हृदय का आप कदापि त्याग मत करना; यही हमारी आपसे याचना है । आपके आश्रित आपके समान बनें, इसमें तनिक भी अघटित नहीं है । दीपक के सम्पर्क से क्या बत्तियाँ दीपकत्व प्राप्त नहीं करतीं ? इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को मदहीन करने के लिये हे स्वामी ! भैषज तुल्य आपका शासन जयवंत होता है । हे त्रिभुवनेश्वर ! आप घाती कर्मों का क्षय करके शेष अघाती कर्मों की जो उपेक्षा करते हैं उसमें लोकोपकार के अतिरिक्त अन्य क्या कारण है ? अन्य कोई कारण नहीं है । जिस प्रकार चंद्र-दर्शन से मंद-दृष्टि व्यक्ति भी पटु हो जाता है, उस प्रकार से आपका प्रभाव देखने से बुद्धिहीन व्यक्ति भी स्तवन करने के लिये बुद्धिमान हो जाता है ।

हे स्वामी ! मोहान्धकार में डूबे जगत् के लिये आलोक के समान आकाश की तरह आपका अनन्त केवलज्ञान विजयी हो रहा है । लाखों जन्मों से उपार्जित कर्म भी आपके दर्शन से विलीन हो जाता है । दीर्घ काल से पत्थर के समान जमा हुआ घी भी क्या वह्नि से नहीं पिघलता ? हे स्वामी ! पिता, माता, गुरु अथवा स्वामी समस्त मिलकर भी जो हित नहीं कर सकते, वह आप अकेले अनेक के समान बन कर जगत् का हित करते हैं । जिस प्रकार रात्रि चंद्रमा से सुशोभित होती है, जिस प्रकार सरोवर हंसों से सुशोभित होता है और मुख-कमल जिस प्रकार तिलक से सुशोभित होता है, उसी प्रकार हे त्रिलोकीनाथ ! तीनों लोक केवल आपके द्वारा ही सुशोभित हो रहे हैं ।"

(३)

श्री जिन-स्तुति का फल—

श्री उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ में बताया है कि—

प्रश्न—"थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?"

उत्तर—"थयथुइमंगलेणं जीवे नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोव-त्तिगं आराहणं आराहेइ ।"

प्रश्न– हे भगवन् ! स्तोत्र-स्तुति रूपी मंगल के द्वारा जीव क्या उपार्जन करता है ?

उत्तर—स्तोत्र-स्तुति रूपी मंगल के द्वारा जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि का लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि-लाभ को प्राप्त किया हुआ जीव अंतक्रिया करके उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा अद्भुत है। श्री जिनेश्वर देवों के अद्भुत गुणों का वर्णन करने वाले शब्द मंत्राक्षर स्वरूप हो जाते हैं। उनसे महान भय भी नष्ट हो जाते हैं। शब्द शास्त्र के अचूक नियमानुसार प्रयुक्त शब्दों के द्वारा रचित श्री जिन-गुण-महिमा-गर्भित स्तोत्रों से चमत्कारपूर्ण वृत्तान्त बनने के अनेक उदाहरण शास्त्रों में वर्णित दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रकार के अनेक स्तोत्र आज भी विद्यमान हैं कि जिनके द्वारा प्राचीन काल में अपूर्व शासन-प्रभावना एवं चमत्कार हो चुके हैं। स्थिर अंतःकरण वाले व्यक्ति उन स्तोत्रों का आज भी जाप करते हैं, जिससे पाप का प्रणाश होने के साथ इष्ट कार्यों की अविलम्ब सिद्धि होती है।

श्री जिन-गुण-स्तवन की महिमा प्रदर्शित करते हुए श्री सिद्धसेन-दिवाकरसूरीश्वरजी ने एक स्थान पर कहा है कि--

"श्री जिन-गुण का स्तवन, जाप अथवा पाठ अथवा श्रवण, मनन अथवा निदिध्यासन अष्ट महासिद्धियों को प्रदान करने वाला है, समस्त पापों को रोकने वाला है, समस्त पुण्य का कारण है, समस्त दोषों का नाशक है, समस्त गुणों का दाता है, महा प्रभावशाली है, भवान्तर-कृत अपार पुण्य से प्राप्त है तथा अनेक सम्यग्-दृष्टि, भद्रिक भाव वालों, उत्तम कोटि के देवों एवं मनुष्यों आदि से सेवित है। चराचर जीव लोक में ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जो श्री जिन-गुण-स्तवन आदि के प्रभाव से भव्य जीवों के हाथ में नहीं आये।"

"श्री जिन-गुण स्तवन के प्रताप से चारों निकायों के देवता प्रसन्न होते हैं; पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश आदि भूत (तत्त्व) अनुकूल होते हैं; साधु पुरुष उत्तम मन से अनुग्रह करने में तत्पर होते हैं; खल पुरुषों का क्षय होता है; जलचर, थलचर एवं गगन-चर क्रूर जन्तु मैत्रीमय हो जाते हैं और अधम वस्तुओं का स्वभाव उत्तम हो जाता है। इससे मनोहर धर्म, अर्थ और काम गुण प्राप्त होते हैं; समस्त ऐहिक सम्पत्ति—शुद्ध,

गोत्र, कलत्र, पुत्र, मित्र, धन, धान, जीवन, यौवन, रूप, आरोग्य एवं यश आदि प्रमुख सम्पदा सम्मुख होती हैं; आमुष्मिक स्वर्ग-अपवर्ग की लक्ष्मी मानों आलिंगन करने के लिये दौड़ी हुई आती है तथा सिद्धि एवं समस्त श्रेयस्कर वस्तुओं का समुदाय स्वतः ही आकर प्राप्त होता है। संक्षेप में श्री जिन-गुण का अनुराग समस्त सम्पदाओं का मूल है।"

श्री जिन-नाम-स्तवन-महिमा--

श्री जिनेश्वर देवों का स्वरूप अगम है, अगोचर है, फिर भी उनके गुणों से आकर्षित सत्पुरुष उन्हें बुद्धि-गोचर करने के लिये अनेक विशेषणों के द्वारा उनकी स्तवना करते हैं। उनमें से कुछ (श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि रचित श्री जिनसहस्रनाममंत्र में से) यहाँ दिये जाते हैं--

"परातमा, परमज्योति, परम-परमेष्ठी, परमवेधस्, परमयोगी, परमेश्वर, सकलपुरुषार्थयोनि, अवद्यविद्याप्रवर्तनैकवीर, एकान्त-कान्त-शान्तमूर्ति, भवद्-भावि-भूत-भावावभासी, कालपाशनाशी, सत्वरजस्तमो-गुणातीत, अनन्तगुणी, वाद्मनोगोचरातीतचरित्र, पवित्र, कारणकरण, तारण-तरण, सात्त्विकदैवत, तात्त्विकजीवित, निर्ग्रन्थ, परमब्रह्महृदय, योगीन्द्र-प्राणनाथ, त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सव, विज्ञानानन्दपरब्रह्मैका-त्म्यसमाधि, हरिहरहिरण्यगर्भादिदेवापरिकलितस्वरूप, सम्यग्ध्येय, सम्यक्-श्रद्धेय, सम्यक्शरण्य, सुसमाहित-सम्यक्-स्पृहणीय, अर्हन्, भगवन्, आदि-कर, तीर्थंकर, स्वयंसम्बुद्ध पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक, पुरुष-वरगन्धहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहित, लोकप्रद्योतकारी, लोकप्रदीप, अभयद, दृष्टिद, मुक्तिद, बोधिद, धर्मद, जीवद, शरणद, धर्मदेशक, धर्म-सारथि, धर्मवर-चातुरन्त-चक्रवर्ती, व्यावृत्तछद्म, अप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शनसद्म, जिन-जापक, तीर्ण-तारक, बुद्ध-बोधक, मुक्त-मोचक, त्रिकाल-वित्, पारंगत, कर्माष्टक-निषूदक, अधीश्वर, शम्भु, स्वयम्भू, जगत्प्रभु, जिनेश्वर, स्याद्वादवादी, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वतीर्थोपनिषद्, सर्व-पाखंड-मोची, सर्वयज्ञ-कुलात्म, सर्वज्ञकलात्म, सर्वयोगरहस्य, केवली, देवा-धिदेव, वीतराग, परमात्मा, परम-कारुणिक, सुगत, तथागत, महाहंस, हंसराज, महासत्त्व, महाशिष, महाबौद्ध, महामैत्र, सुनिश्चित, विगतद्वन्द्व, गुणाब्धि, लोकनाथ, जित-मार-बल, सनातन, उत्तमश्लोक, मुकुन्द, गोविन्द, विष्णु, जिष्णु, अनन्त, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृषिकेश, जगन्नाथ,

भूर्भुवःस्वः-समुत्तार, मानंजर, कालंजर, ध्रुव, अजेय, अज, अचल, अव्यय, विभु, अचिन्त्य, असंख्य, आदिसंख्येय, आदिसांख्य, आदिकेशव, आदिशिव, महाब्रह्म, परमशिव, एकानेकान्तस्वरूप, भावाभावविवर्जित, अस्ति-नास्तिद्वयातीत, पुण्यपापविरहित, सुखदुःखविविक्त, अव्यक्त, व्यक्त-स्वरूप, अनादिमध्यनिधन, मुक्तिस्वरूप, निःसंग, निरातंक, निःशंक, निर्भय, निर्द्वन्द्व, निस्तरंग, निरूर्मि, निरामय, निष्कलंक, परमदैवत, सदाशिव, महादेव, शंकर, महेश्वर, महाव्रती, महापंचमुख, मृत्युंजय, अष्टमूर्ति, भूतनाथ, जगदानन्द, जगत्पितामह, जगदेवाधिदेव, जगदीश्वर, जगदादिकन्द, जगद्भास्वत्, जगत्कर्मसाक्षी, जगच्चक्षुष, जयीतनु, अमृतकर, शीतकर, ज्योतिश्चक्र-चक्री, महाज्योति,महातमःपार, सुप्रतिष्ठित, स्वयंकर्ता,स्वयंहर्ता, स्वयंपालक, आत्मेश्वर, विश्वात्मा, सर्व-देवमय, सर्वध्यानमय, सर्वमंत्रमय, सर्वरहस्यमय, सर्व ज्ञानमय, सर्व तेजोमय, सर्वभावाभावजीवजीवेश्वर, अरहस्यरहस्य, अस्पृहस्पृहणीय, अचिन्त्य-चिन्तनीय, अकामकामधेनु, असंकल्पित-कल्पद्रुम, अचिन्त्यचिन्तामणि, चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकचूडामणि, चतुरशीतिजीवयोनि-लक्षप्राणनायक, पुरुषार्थनाथ, परमार्थनाथ, अनाथनाथ, जीवनाथ, देवदान-वमानवसिद्धसेनाधिनाथ, निरंजन, अनन्तकल्याण, निकेतनकीर्ति, सुगृहीत-नामधेय, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरशान्त, धीरललित, पुरुषोत्तम, पुण्य-श्लोक, शतसहस्र-लक्षकोटिवन्दित-पादारविन्द, सर्वगत, सर्वप्राप्त, सर्वज्ञान, सर्वसमर्थ, सर्वप्रद, सर्वहित, सर्वाधिनाथ, क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, पावन, पवित्र, अनुत्तर, उत्तर, योगाचार्य, सुप्रक्षालन, प्रवर, अग्र, वाचस्पति, मांगल्य, सर्वात्मनाथ, सर्वार्थ, अमृत, सदोदित, ब्रह्मचारी, तायी, दाक्षिणीय, निर्विकार, वज्रर्षभ-नाराचमूर्ति, तत्त्वदृश्वा, पारदर्शी, निरुपमज्ञानबलवीर्यतेजोऽनन्तैश्वर्यमय, आदि-पुरुष, आदिपरमेष्ठी, आदिमहेश, महाज्योतिःसत्व, महार्चिधनेश्वर, महामोहसंहारी, महासत्त्व, महाज्ञानमहेन्द्र, महालय, महाशान्त, महायोगीन्द्र, अयोगी, महामहीयान्, महासिद्ध, महीयान्, शिव-अचल-अरुज - अनन्त - अक्षय - अव्याबाध - अपुनरावृत्ति - महानन्द - महोदय - सर्वदुःखक्षय - केवल्य - अमृत - निर्वाण - अक्षर - परब्रह्म - निःश्रेयस् - अपुनर्भव, सिद्धिगतिनामधेयस्थान - संप्राप्त, चरमाचरमवान् - आदिनाथ, त्रिजगन्नाथ, त्रिजगत्स्वामी, विशाल-शासन, निर्विकल्प, सर्वलब्धिसंपन्न, कल्पनातीत, कलाकलापकलित, केवलज्ञानी, परमयोगी, विस्फुरदुरुशुक्ल-ध्यानाग्नि-निर्दग्धकर्मबीज, प्राप्तानन्तचतुष्टय, सौम्य, शांत, मंगलवरद्, अष्टादशदोषरहित, समस्त - विश्वसमीहित ।

श्री जिन-नाम-स्तवन—

ॐ ह्रीँ श्रीँ अर्हं नमः ॥

श्री जिनेश्वर देव की स्तवना करते हुए श्री जिन-सहस्रनाम मंत्र के अन्त में आचार्य - पुरन्दर श्री सिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वरजी महाराज ने बताया है कि—

"लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मङ्गलमप्यधीश ।
त्वामेकमर्हन् ! शरणं प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव ॥१॥"

हे अधीश ! आप लोकोत्तम हैं, निष्प्रतिम हैं, शाश्वत हैं और मंगल हैं। हे अर्हन् ! मैं आपका शरण अंगीकार करता हूँ, आप ही सिद्धर्षि एवं सद्धर्ममय हैं। (१)

"त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः ।
प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्वं तत्त्वं गतिर्मतिः ॥२॥"

आप मेरी माता हैं, पिता हैं, नेता हैं, देव हैं, धर्म हैं, परम गुरु हैं, प्राण हैं, स्वर्ग एवं अपवर्ग हैं, सत्त्व हैं, तत्त्व हैं, गति हैं और मति हैं। (२)

"जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिदं जगत् ।
जिनो जगति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥"

जिन दाता है, जिन भोक्ता है और समस्त जगत् जिन है, जगत में सर्वत्र जिन है, जो जिन है वह मैं स्वयं ही हूँ। (३)

"यत् किञ्चित् कुर्महे देव !, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजपदस्थस्य, दुःखं क्षपय त्वं जिन ! ॥४॥"

हे देव ! हम जो सुकृत - दुष्कृत करते हैं, आपके चरणों में स्थित हमारे उन दुःखों का हे जिनेश्वर ! आप क्षय करें। (४)

"गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं, गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिः श्रयति मां येन, त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थितम् ॥५॥"

आप अत्यन्त गुह्य से भी गुह्य रक्षक हैं। हमारे द्वारा किये गये इस जाप को आप ग्रहण करें, जिससे आपकी कृपा (प्रसाद) से आप में स्थित हमें सिद्धि प्राप्त हो। (५)

—o—

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

सन् १६८८ एवं १६८६ के नये प्रकाशन

प्रा.भा. पु.	पुस्तक	लेखक	मूल्य
44.	वज्जालग्ग में जीवन मूल्य (प्रा. हि.)	डा. के. सी. सोगाणी	10.00
45.	गीता चयनिका (सं. हि.)	डा. के. सी. सोगाणी	16.00
46.	ऋषिभाषित सूत्र (प्रा. हि. अं.)	सं. म. विनय सागर	100.00
47.	नाडि विज्ञानम्		
48.	तथा नाडि प्रकाशम् (सं. अं.)	डा. जे. सी. सिकदर	30.00
49.	ऋषिभाषित : एक अध्ययन (हि.)	डा. सागरमल जैन	30.00
50.	उववाइय सुत्तं (प्रा. हि. अं.)	सं. गणेश ललवानी	
		सजिल्द	100.00
		अजिल्द	80.00
51.	उत्तराध्ययन चयनिका (प्रा. हि.)	डा. के. सी. सोगाणी	10.00
52.	समयसार चयनिका (प्रा. हि.)	डा. के. सी. सोगाणी	16.00
53.	परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका (प्रा. हि.)	डा. के. सी. सोगाणी	10.00
54.	ऋषिभाषित : ए स्टडी (अं.)	डा. सागरमल जैन	30.00
55.	अर्हत् - वंदना (हि.)	म. चन्द्र प्रभ सागर	3.00
56.	राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द	पं. झाबरमल्ल शर्मा	75.00
57.	श्री आनन्दघन चौबीसी (रा. हि.)	सं. भंवरलाल नाहटा	30.00
58.	देवचन्द्र चौबीसी सानुवाद (रा. हि.)	प्र. सज्जन श्री जी	60.00
59.	सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म (हि.)	विजयकला पूर्ण सूरि	30.00
60.	दुःख मुक्ति : सुख प्राप्ति (हि.)	कन्हैयालाल लोढा	30.00
61.	गाथा सप्तशती (प्रा. सं. हि.)	सं. हरिराम आचार्य	100.00
62.	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (हि.)	गणेश ललवानी	100.00
63.	योगशास्त्र ऑफ हेमचन्द्राचार्य (सं. अं.)	सं. सुरेन्द्र बोथरा	100.00
64.	जिन-भक्ति (प्रा. सं. हि.)	अ. भद्रंकर विजय गणि	25.00
65.	सहजानन्द घन चरियं (अप.)	भंवरलाल नाहटा	20.00
66.	आगम युग का जैन दर्शन	दलसुख भाई मालवणिया	
		सजिल्द	80.00
		अजिल्द	60.00

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
के प्रकाशनों के प्राप्ति स्थान

1. **प्राकृत भारती अकादमी**
   3826, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
   जयपुर-302003

2. **श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ**
   मेवानगर, स्टे. बालोतरा-344025
   जि. बाडमेर (राजस्थान)

3. **मोतीलाल बनारसीदास**
   (अ) बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110007
   (ब) चौक, वाराणसी-221001
   (स) अशोक राजपथ, पटना-800004
   (द) 24, रेसकोर्स रोड, बैंगलोर-560 001
   (य) 120, रोया पेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास-600 004

4. **आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान**
   पद्मिनी मार्ग, उदयपुर-313 001

5. **जैन भवन**
   पी-25, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-700007